



THE  
HITOPADEŚA

OF

NĀRĀYAṆ PAṆḌIT

A PROTEGE OF KING DHAVALACHANDRA

WITH HINDI TRANSLATION

OF

The late PAṆḌIT RĀMESHVAR BHATṬ

HEAD TEACHER, MULLIAM SCHOOL, AUSA

†

Ninth Edition

RE-EDITED WITH INDICES, FOOT-NOTES ETC.,

BY

NĀRĀYAṆ RĀM ACHĀRYA "KĀVYATĪRTH"

PUBLISHED BY

SATYABHĀMĀBĀI PĀṆḌURĀṄG,

FOR THE 'NIRNAYA SĀGAR' PRESS,

BOMBAY

†

1941

॥ श्रीः ॥

श्रीनारायणपण्डितसंगृहीतः

# हितोपदेशः



आगरापत्तनस्थराजकीयमुख्यपाठशालीयप्रधानसंस्कृता-  
ध्यापकज्योतिर्विद्वालमुकुन्दभट्टसूनु-  
पण्डितरामेश्वरभट्टकृतया  
भापाटीकया समलङ्कृतः

५

तस्येद

नवम संस्करणम्

श्रीमदिन्दिराकान्तचरणान्तेवासिना

नारायण राम आचार्य “काव्यतीर्थ”

इत्यनेन परिशिष्टादिभिः समलङ्कृत्य संशोधितम्

मुम्बय्या

सत्यभामावाई पाण्डुरङ्ग इत्येताभिः ,

निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालयकृते तत्रैवाङ्कयित्वा प्रकाशितम् ।

संवत् २००० सन १९४४.

श्रीः ।

# हितोपदेशः ।

भाषाटीकासमलंकृतः ।

## प्रस्ताविका ।

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।

जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

जिन्होंके ललाटपर चन्द्रमाकी कला गंगाजीके फेनकी रेखाके समान शोभायमान है उन चन्द्रशेखर महादेवजीकी कृपासे साधुजनोंका मनोरथ सिद्ध होय ॥१॥

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।

वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

यह हितोपदेश नामक ग्रथ सुना हुआ संस्कृतके बोलने-चालनेमें चतुरताको, सब विषयोंमें वाक्योंकी विचित्रताको और नीतिविद्याको देता है ॥ २ ॥

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य अपनेको कमी बूढा न होऊँगा और कमी न मरूँगा ऐसा जानकर विद्या और धनका सचय करे, मृत्युने चोटीको आ पकड़ा है ऐसा सोच धर्म करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।

अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

पण्डित लोग सब कालमें चौरादिकोंसे नहीं चुराये जानेसे, अनमोल होनेसे और कमी क्षय न होनेसे, सब पदार्थोंमेंसे उत्तम पदार्थ विद्याहीको कहते हैं ॥ ४ ॥

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।

समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

जैसे नीच अर्थात् तुच्छ तृणादिसे मिलनेवाली नदी उस तृणादिकको अथाह समुद्रसे जा मिलती है, उसी प्रकार विद्यामी नीच पुरुषको प्राप्त होकर राजासे जा मिलती है, फिर सौभाग्य उदय कराती है ॥ ५ ॥

\* यथा मनुष्य और तृणकी, विद्या और नदीकी, समुद्र और राजाकी समानता है।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥ ६ ॥

विद्या मनुचक्रो नम्रता देती है और वह नम्रताने योग्यता, योग्यतासे धन, धनसे धर्म, फिर धर्मसे सुख पाता है ॥ ६ ॥

विद्या शास्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।

आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ॥ ७ ॥

शास्त्रविद्या और शास्त्रविद्या ये दोनों आदर करानेवाली हैं परंतु पहली अर्थात् शास्त्रविद्या बुढ़ापेमें “पुरुषार्थ न होनेसे” हँसी कराती है और दूसरी अर्थात् शास्त्रविद्या सबकालमें आदर कराती है ॥ ७ ॥

यन्नत्रे भाजने लग्नं संस्कारो नान्यथा भवेत् ।

कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥

जैसे मृत्तिकाके कोरे बर्तनमें जिस वस्तुका संस्कार पहिले होजाता है और पीछे वह उममेंने नहीं जाता है उसी प्रकार में इस हितोपदेश ग्रन्थमें कथासे बालाने नीतिको के लिये नीति कहता हू ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो मित्रहः संविरेव च ।

पश्चतन्त्रानथान्यस्माद्ग्रन्थादावृण्य लिख्यते ॥ ९ ॥

पंचतन्त्र तथा और और नीतिके ग्रन्थोंसे आशय लेकर, १ मित्रलाभ, २ सुहृद्भेद, ३ मित्रह और ४ शक्ति, ये चार भाग बनाता हूँ ॥ ९ ॥

अभि मार्गाधीनरे पाटलिपुत्रनामधेय नगरम् । तत्र राधे  
स्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नगपतिरामीत् । रा भूपतिरेकदा  
बिनादि पञ्चमानं त्रयोक्तयं सुथाव—

—इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगा-  
मिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

इन दोनो श्लोकोंको सुनकर, वह राजा, शास्त्रको नहीं पढ़नेवाले, तथा प्रतिदिन कुमार्गमें चलने वाले, अपने लडकोंके, शास्त्र न पढ़नेसे मन व्याकुल होकर सोचने लगा—

‘कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।

काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुःपीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

जो न पण्डित है और न धर्मशील है, ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ किस कामका<sup>२</sup> जैसे काणी आखसे क्या सरता है, केवल आँखकोही पीडा है ॥ १२ ॥

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।

सरुद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

उत्पन्न नहीं हुआ, तथा होकर मर गया और मूर्ख, इन तीनोंमेंसे पहले<sup>१</sup> दो अच्छे हैं और अन्तिम(मूर्ख)का अच्छा नहीं, क्योंकि आदिके दोनो एकही वार दुःखके करने वाले हैं अन्तिम क्षणक्षणमें (हमेशा) दुःख देता है ॥ १३ ॥

किंच,—

वरं गर्भस्त्रावो वरमपि च नैवाभिगमनं

वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।

वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-~~X~~

न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

और गर्भका गिर पडना, स्त्रीका ससर्ग न करना, उत्पन्न होकर मर जाना, कन्याका होना स्त्रीका बाँझ रहना, अथवा उसके गर्भमेंही रहना अच्छा है, परन्तु सुन्दरता तथा सुवर्णके आभूषणोंसे युक्त मूर्ख पुत्र होना अच्छा नहीं ॥ १४ ॥

किंच,—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।

परिचर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ १५ ॥

और जिस पुत्रके उत्पन्न होनेसे वंशकी बढाई हो, वह जानों उत्पन्न हुआ, नहीं तो इस असार ससारमें भरकर कौन मनुष्य उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् बहुत-से होते हैं और बहुत से मरते हैं ॥ १५ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य ।

तेनाम्वा यदि सुतिनी वद् वन्ध्या कीदृशी नाम ॥ १६ ॥

गुणियोंकी गिनतीके धारभमें जिसका नाम गौरवपूर्वक खटियासे नहीं लिखा जाय, ऐसे पुत्रमें जो माता पुत्रवती कहलावे तो वहो बाँझ कैसी होती है<sup>२</sup> अर्थात् जिसका पुत्र निर्गुणी है वही बाँझ है ॥ १६ ॥

अपि च,—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।

विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥ ।

और भी कहा है कि—दानमें, तपमें, श्रुतमें, विद्याके पढ़नेमें और धन लाभमें जितना मन नहीं लगा वह पुत्र अपनी माताके मज्जुके समान कुछ है ॥ १७ ॥

अपर च,—

वरमेको गुणी पुत्रो न च सूर्खशतान्यपि ।

एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥ १८ ॥

और दूसरे—गुणी एकही पुत्र अच्छा परंतु मूर्ख सौ अच्छे नहीं, क्योंकि एक चन्द्रना अंधेरेमें डूब कर देता है और अनेक तारे नहीं कर सके हैं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः काप्यतिदुष्करम् ।

तस्य पुत्रो भवेद्दयः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

जिन मनुष्यने किसी पुण्य तीर्थमें अति कठिन तप किया है, उसका पुत्र धनवन्त, धनवान्, धर्मशील और पंडित होता है ॥ १९ ॥

अर्थागमो निलामगोगिता च

श्रिया न भार्या प्रियतादिनी च ।

वदन्त्य पुत्रोऽर्थकरी च विद्या

पुत्र जीवदोक्तस्य सत्यानि राजन् ! ॥ २० ॥

हे राजन् ! जिन धनका लाभ, आरण्याता, प्रियतमा और मातृभाषिणी स्त्री अत्यास ही पुत्र के धन, लाभ । रामे नाती विद्या, ये सगारम छ सुपा हैं ।

को धरयो यदुभिः पूत्रैः कुशलपारणाढ्यैः ।

यस्यैव नृणां प्रीत्यै यत्र विश्रयते पिता ॥ २१ ॥

किसीसेभी उत्पन्न हुआ हो, किन्तु गुणवान् होनेसे प्रतिष्ठा पाता है, जैसे अच्छे वासका बना हुआभी धनुष्य गुण अर्थात् डोरीके बिना क्या कर सकता है? ॥ २४ ॥

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ।

आहारनिद्राभयमैथुनं च

सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५ ॥

इसलिये अब किसी प्रकारसे, इन मेरे पुत्रोंको गुणवान् कीजिये आहार, निद्रा भय, और मैथुन, ये पशुओं और मनुष्योंमें समान हैं, केवल मनुष्योंमें धर्मही अधिक है और धर्महीन मनुष्य पशुके समान है ॥ २५ ॥

यतः,—

‘धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।

अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्’ ॥ २६ ॥

क्योंकि—‘जिस मनुष्यमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमेंसे एक भी न हो, उसका जन्म बढरीके गलेके धनके समान श्रुषा है’ ॥ २६ ॥

यच्चोच्यते,—

‘आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः’ ॥ २७ ॥

जैसा कहा जाता है कि ‘आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु, ये पांच बातें मनुष्यकी गर्भहीमें उत्पन्न होती हैं’ ॥ २७ ॥

किं च,—

‘अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।

नशत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः’ ॥ २८ ॥

और—‘अवश्य होनहार विषय बडोकोंभी होते हैं जैसे महादेवजीको नशता और विष्णुका शेषनागपर लोटना’ ॥ २८ ॥

अपि च,—

‘यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।

इति चिन्ताविषमोऽयमगदः किं न पीयते’ ॥ २९ ॥

और—‘जो होनहार नहीं है सो कभी न होगा और जो होनहार है उससे विपरीत न होगा अर्थात् अवश्य होगा—इस चिन्तारूपी विषको नाश करने वाली औषधको क्यों नहीं पीते?’ ॥ २९ ॥

एतत्कार्याक्षमाणां केषांचिदालस्यवचनम् ।

न दैवमपि संचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।

अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

यह तो कितनेही, कार्य करनेमें असमर्थोंका आलस्ययुक्त वचन है । भाग्यको



विचार कर भी मनुष्यको अपना उद्योग नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि तिन उद्योगके विनिमये देल कौन निकाल सका है ? ॥ ३० ॥

मन्त्र्यत्र.—

उद्योगिनं पुरुषसिहमुपैति लक्ष्मी-  
'द्वेन देय'मिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३१ ॥

इ—भी—उद्योगी तथा पुरुषोंमें सिद्धके समान पराकमी अर्थात् भ्रष्ट मनुष्यके लक्ष्मी मिलती है और 'भाग्यमें होगा सो मिलेगा' यह पुरुषार्थहीन मनुष्य कहे है उद्योगके भाग्यको छोड़, यथाशक्ति यत्न करता चाहिये और यत्न करनेके जो फल मिल न हो तो उसमें क्या दोष है ? ॥ ३१ ॥

यत्ना होकेन नतेण न रथस्या गतिर्भवेत् ।

एत पुरुषकारेण विना देवं न सिध्यति ॥ ३२ ॥

अन्व—यदि एक पुरुषको यत्न नहीं चलता है बगेरी उद्योगके विना पारम्पर्य यत्न करनेसे ॥ ३२ ॥

मन्त्र्यत्र.—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।

न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये चको यथा ॥ ३८ ॥

जिन माता-पिताने अपने बालकको नहीं पढाया है, वे उनके वैरी ह और वह बालक सभामें, हसोंमें चगुलेकी तरह शोभा नहीं देता है ॥ ३८ ॥

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः ।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

सुन्दरता तथा यौवनसे युक्त और बड़े कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य विद्याहीन होनेसे सुगन्धरहित टेसूके पुष्पोंके समान शोभा नहीं पाते हैं ॥ ३९ ॥

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्टितः ॥

तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते ॥ ४० ॥

मूर्ख भी सुन्दर कपड़े पहिरे हुए सभामें तभीतक अच्छा लगता है कि जबतक वह कुछ न बोले ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान् । राजो-  
वाच—‘भो भोः पण्डिताः ! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान्  
यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं  
नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ।

यह सोच विचार करके उम राजाने पण्डितोंकी सभा कराई. राजा बोला, हे पण्डितमहाशयो ! सुनिये कोई ऐसाभी पण्डित है जो मेरे नित्य कुमार्गी तथा शास्त्रको नहीं पढे हुए वेदोंका अब नीतिशास्त्रके उपदेशसे नया जन्म करानेको समर्थ हो ?

यतः,—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।

तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि—सुवर्णके सग होनेसे जैसे काचकी मरकतमणिकी-सी शोभा हो जाती है, वैसेही अच्छे सगसे मूर्खभी चतुर हो जाता है ॥ ४१ ॥

उक्तं च,—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।

समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४२ ॥

और कहा है कि—नीचोंके साथ रहनेसे बुद्धि घट जाती है, समा पुरुषोंके साथ रहनेसे समान रहती है और अधिक बुद्धिमानोंके साथ रहनेसे बढ़ जाती है ॥४२॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो  
बृहस्पतिरिवाब्रवीत्—‘देव ! महाकुलसंभूता एते राजपुत्राः ।  
तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ।

उस समय सम्पूर्ण नीतिशास्त्रके सारको जाननेवाले, बृहस्पतिजीके समान एक बड़े धुरंधर पण्डित विष्णुशर्माजी बोले—‘श्री महाराज ! ये बड़े सत्कुलमें उत्पन्न हुए राजपुत्र हैं. इसलिये मैं इनको नीति सिखा सकता हूँ क्योंकि—

वृत्तः,—

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत् ।

न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते वकः ॥ ४३ ॥

इन्द्रेण वस्तुमें किया हुआ परिश्रम सफल नहीं होता है, जैसे अनेक उपाय करने परभी तोतेके सन्तान बटुला नहीं पलाया जा सकता है ॥ ४३ ॥

वृत्तः,—

अस्मिन्निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते ।

आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ॥ ४४ ॥

इंद्रेण इन्द्रे—य सत्कृतमें गुणहीन सन्तान उत्पन्न नहीं होगनी है, जैसे पद्मरागाणियोंके नाममें सत्कृतका जन्म सदा होसकता है ॥ ४४ ॥

ग्नोऽहं कामासाभ्यान्तरे तत्र पुगन्धीतिशाखाभिज्ञानकरिष्यामि ।  
राजा गतिनयं पुनश्चान—।

इन्द्रेण इन्द्रे—य सत्कृतमें गुणहीन सन्तान उत्पन्न नहीं होगनी है, जैसे पद्मरागाणियोंके नाममें सत्कृतका जन्म सदा होसकता है ॥ ४४ ॥

'किदोऽपि समनःसहाहागेहति सतां शिरः ।

अस्मापि गति देयानं मरुजिः समतिष्ठितः' ॥ ४५ ॥

# हितोपदेशः ।

## मित्रलाभः ।

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्ताव-  
क्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—

फिर राजभवनके ऊपर आनन्दसे बैठे हुए, राजकुमारोंके सामने प्रसंगकी रीतिसे पण्डितजी यों बोले—

‘काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा’ ॥ १ ॥

‘काव्यशास्त्रके आनन्दसे बुद्धिमानोंके और द्यूत आदि दुर्व्यसन, नींद अथवा कलहसे मूर्खोंका समय कटता है’ ॥ १ ॥

‘तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि ।’  
राजपुत्रैरुक्तम्—‘आर्य ! कथ्यताम् ।’ विष्णुशर्मोवाच—‘शृणुत ।  
संप्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

‘इसलिये आपकी प्रसन्नताके लिये काग, बछुआ आदिकी विचित्र कथा कहता हूँ’ । राजपुत्र बोले—‘हे गुरुजी ! कहिये’ । विष्णुशर्मा बोले—‘सुनिये । मैं अब मित्रलाभ कहता हूँ कि जिसका प्रथम वाक्य यह है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।

साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत्’ ॥ २ ॥

असन्न शस्त्र आदि उपायरहित, तथा धनहीन किन्तु बुद्धिमान् और आपसमें बड़े परम मित्र ( लोग ), कक, कूर्म, मृग और चूहेके समान शीघ्र कार्योंको सिद्ध कर लेते हैं’ ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—‘कथमेतत्?’ विष्णुशर्मा कथयति,—

राजपुत्र बोले—‘यह कहानी कैसी है?’ विष्णुशर्मा कहने लगे—

‘अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शालमलीतरुः । तत्र नानादिग्दे-  
शादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिदवसन्नायां  
रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमलि  
लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं  
व्याधमपश्यत् । तमवलोक्याच्चिन्तयत्—‘अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं  
जातम् । न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति ।’ इत्युक्त्वा तदनुसर-  
णक्रमेण व्याकुलश्चलितः ।

‘गोदावरीके तीरपर एक बड़ा सैमरक पेड़ है । वहाँ अनेक दिशाओंके देशोंसे आकर रातमें पक्षी बसेरा करते हैं । एक दिन जब थोड़ी रात रह गई और भगवान् कुमुदिनीके नायक चन्द्रमाने अस्ताचलकी चोटीकी शरण ली तब

## ॥ कथा १ ॥

‘अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम् । एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—‘भो भोः पान्थाः । इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम् ।’ ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्—भाग्येनैतत्संभवति । किंत्वस्मिन्नात्मसंदेहे प्रवृत्तिर्न विधेया ।

‘एक समय मैंने दक्षिणके वनमें चलते हुए देखा कि एक बूढा बाघ न्हा धोकर कुशा हाथमें लिये सरोवरके किनारेपर बोला—‘ओ बटोहियो । यह सुवर्णका ककन लो’ । तब लोभके मारे किसी बटोहीने जीमें विचारा कि—‘यह बात भाग्यसे होती है ? परन्तु इस आत्माके सदेहमें ( अर्थात् कहीं मर न जाऊ इस सोचमें ) प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

यतः—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।

यत्रास्ते विपसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

क्यों कि—दुर्जनसे मनोरथ पूरा भी हो जाय परन्तु परिणाम अच्छा नहीं होता है, जैसे अमृतमें विपके मिलनेसे वह अमृत भी मार डालता है ॥ ६ ॥ किंतु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्ति. संदेह एव ।

परन्तु सर्वदा धनके उत्पन्न करनेमें तो सदेह होताही है । जैसा कहा है—  
तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

मनुष्य सन्देहोंमें पड़े विना कल्याण नहीं देखता है, परन्तु सन्देहोंमें पडकर जो जीता रहता है तो देखता है ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत् ।’ प्रकाशं ब्रूते—‘कुत्र तव कङ्कणम् ?’ व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति । पान्थोऽवदत्—‘कथं मारात्मके त्वयि विश्वास.?’ व्याघ्र उवाच—‘शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवन-दशायामतिदुर्वृत्त आसम् । अनेकगोमानुपाणां वधान्मे पुत्रा सृता दाराश्च । वंशहीनश्चाहम् । तत केनचिद्भार्मिकेणाहमादिष्टः—‘दानधर्मादिकं चरतु भवान् ।’ तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो कथं न विश्वासभूमिः ?

इसलिये प्रथम इस बातका निश्चय करूँ प्रकट बोला—‘अरे ! तेरो कंकन कहा है ?’ बाघने हाथ पसार कर दिखा दिया । बटोहीने कहा—‘मैं तुझ हत्यारेमें कैसे विश्वास करूँ ?’ बाघ बोला—‘सुनरे बटोही ! पहिले मैं युवावस्थामें बड़ा दुराचारी था । अनेक गौओं और मनुष्योंके मारनेसे मेरे स्त्री-पुत्र मरगये, और मैं वंशहीन होगया तब किसी धर्मात्माने मुझे उपदेश किया कि—‘आप दान, धर्म आदि करिये’ । उसके उपदेशसे अब मैं स्नान करता हूँ, दानी तथा गृह्य हूँ, नख और दात भी मेरे गल गये हैं, मैं विश्वासके योग्य क्यों नहीं हूँ ?

दु खमें, शुभमें और अशुभमें, पुरुष अपनी आत्माके समान प्रमाण करता है ॥ १३ ॥

अन्यच्च,—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

और दूसरे—जो पराई स्त्रीको माताके समान, पराये धनको ककडके समान, और सब प्राणियोंको अपनी आत्माके समान समझता है, वही सच्चा पण्डित है ॥

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तम्—

तू अत्यंत निर्धन है इसलिये मैं तुझे देनेका उपाय करता हूँ, जैसा कहा है—

दरिद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छे श्वरे धनम् ।

व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १५ ॥

हे युधिष्ठिर ! दरिद्रियोंका पालन और पोषण कर तथा धनवानको धन मत दे, क्योंकि रोगीको औषध गुणदायक होती है और नीरोगको औषधियाँ ब्रूया हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च,—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

और—‘यह देना है’ इस नि स्पृह युद्धिसे जो दान अनुपकारीको देश काल और सुपात्र विचार कर दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहलाता है ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ।’ ततो यावदसौ तद्वचः-  
प्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति तावन्महापङ्के निमग्नः पला-  
यितुमक्षमः । पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्यात्रोऽवदत्—‘अहह ! महापङ्के  
पतितोऽसि । अतस्त्वामहमुत्थापयामि ।’ इत्युक्त्वा शनैः शनै-  
रुपगम्य तेन व्यात्रेण धृतः; स पान्योऽचिन्तयत्—

इसलिये इस सरोवरमें न्हाकर सोनेका वक्रण ले । तब ज्योंही वह उसकी नीठी २ वातें सुन कर लोभसे सरोवरमें झान करनेके लिये उतरा त्योंही घनी कीचडमें फँस गया और भाग न सका । उसको कीचटमें फँसा देखकर व्याघ्रने कहा—‘ओहो ! तू बड़ी भारी कीचडमें फँस गया है, इसलिये मैं तुझे बाहर निकालता हूँ । यह कह कर और हाँले हाँले पास जाकर उस बाधने उसे पकड़ लिया, तब वह बटोही सोचने लगा—

‘न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं

न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते

यथा प्रकृत्या मधुर गवां पयः ॥ १७ ॥

‘जो दुष्ट है उसे धर्मशास्त्र और वेद पढ़नेसे क्या होता है ? क्योंकि, स्वभाव ही सबसे प्रबल होता है, जैसे गायोंका दूध स्वभावसेही नीठा होता है’ ॥ १७ ॥

१ जिसके साथ प्रत्युपकार या कोई अन्य तरह स्वार्थका संबन्ध न होय ऐसे पुरुषको.

२ हितो.

यह बात वह सोचही रहा था कि जिसे वाघने मार डाला और खा गया । इसीसे मैं कहता हू कि, “कंकणके लोभसे” इत्यादि. इस लिये विना विचारे काम कभी नहीं करना चाहिये—

यतः,—

‘सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः

सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं

सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्’ ॥ २२ ॥

क्योंकि—‘अच्छी रीतिसे पका हुआ भोजन, विद्यावान् पुत्र, सुशिक्षित अर्थात् आज्ञाकारिणी स्त्री, अच्छे प्रकारसे सेवा किया हुआ राजा, सोच कर कहा हुआ वचन, और विचार कर किया हुआ काम ये बहुत काल तकभी नहीं विघड़ते हैं’ ॥२२॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह—‘आः किमेवमुच्यते ?

यह सुनकर एक कवूतर घमडसे बोला, ‘अजी ! तुम क्या कहते हो ?

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।

सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥

जब आपत्काल आवे तब वृद्धोंकी बात माननी चाहिये और सर्वदा माननेमें तो भोजन भी न मिले ॥ २३ ॥

यतः,—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले ।

प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥

क्योंकि—इस पृथ्वीतल पर अन्न और पान सन्देहोंसे भरा है, किस वस्तुमें खाने-पीनेकी इच्छा करे अथवा कैसे जिए ? ॥ २४ ॥

ईर्ष्यां वृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।

परभाग्योपजीवी च पढेते दुःखभागिनः’ ॥ २५ ॥

ईर्ष्या करने वाला, घिन करने वाला, असतोषी, क्रोधी, सदा सदेह करने वाला और पराये आसरे जीने वाला ये छ. प्रकारके मनुष्य हमेशा दुःखी होते हैं’ ॥

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

यह सुन कर—सब कवूतर ( वहेलियेने चावलके कण जहां छींटे थे ) वहा बैठ गये ।

यतः,—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।

छेत्तार. संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

क्योंकि—अच्छे वडे वडे शास्त्रोंको पढने तथा सुनने वाले और सदेहोंको दूर करने वाले भी लोभके वश हो कर दुःख भोगते हैं ॥ २६ ॥

अन्यच्च,—

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते ।

लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

आपत्तिकालमें घबराजाना तो कायर पुरुषका चिन्ह है, इसलिये, इस काममें धीरज धर कर उपाय सोचना चाहिये,

यतः,—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमाः

सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

क्योंकि—आपदामें धीरज, बढतीमें क्षमा, सभामें वाणीकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम, यशमें रुचि, और शास्त्रमें अनुराग ये बातें महात्माओंमें स्वभावसेही होती हैं ॥ ३२ ॥

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विपादो रणे च धीरत्वम् ।

तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३३ ॥

जिसे सम्पत्तिमें हर्ष, और आपत्तिमें खेद न हो, और समग्राममें धीरता होय ऐसे-तीनों लोकके तिलक विरलेही पुत्रको माता जनती है ॥ ३३ ॥

अन्यच्च,—

पद् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

और इन समारामे अपना कल्याण चाहने वाले पुरुषको निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता ये छ अवगुण छोड देने चाहिये ॥ ३४ ॥

इदानीमप्येवं क्रियताम् । सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोद्दीय-  
ताम् ।

अब भी ऐना करो, सब एक मत होकर जालको लेकर उडो,

यतः,—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।

तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्वध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

क्योंकि—छोटी छोटी वस्तुओंके समूहसे भी कार्य सिद्ध हो जाता है, जैसे घासकी बटी हुई रसियोंसे मत वाले हाथी बँध सकते हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।

तुपेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

अपने कुलके छोटे मनुष्योंका समूह भी कल्याणका करने वाला होता है, क्योंकि तुस ( छिलके ) से अलग हुए चावल फिर नहीं उगते हैं ॥ ३६ ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः । अनन्तरं स  
व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्भावन्नचिन्तयत्—

यह विचार कर सब क्वृतर जालको लेकर उडे । फिर वह बहेलिया, जालको लेकर उड़ने वाले क्वृतरोंको दूरसे देख कर पीछे दौडा और चिंता करने लगा.

‘सहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहंगमा ।

यदा तु निपतिप्यन्ति वशमेप्यन्ति मे तदा’ ॥ ३७ ॥



इन्हें जालमें फँसा देख कर आश्चर्यसे क्षणभर ठहर कर बोला—‘मित्र ! यह क्या है ?’ चित्रग्रीव बोला—‘मित्र ! यह हमारे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है !

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च

यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।

तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च

तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

जिस कारणसे, जिसके करनेसे, जिस प्रकारसे, जिस समयमें, जिस काल तक और जिस स्थानमें जो कुछ भला और बुरा अपना कर्म है उसी कारणसे, उसीके द्वारा, उसी प्रकारसे, उसी समयमें, वही कर्म, उसी काल तक, उसी स्थानमें, प्रारब्धके वशसे पाता है ॥ ४० ॥

रोगशोकपरीतापवन्धनव्यसनानि च ।

आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ४१ ॥

रोग, शोक, पछतावा, बन्धन और आपत्ति, ये देहधारियोंके लिये अपने अपराधरूपी वृक्षके फल हैं ॥ ४१ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेतुं सत्वरमुपसर्पति । चित्रग्रीव उवाच—‘मित्र ! मा मैवम् । अस्मदाश्रितानामेपां तावत्पाशाश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि ।’ हिरण्यकोऽप्याह—‘अहमल्पशक्तिः । दन्ताश्च मे कोमलाः । तदेतेपां पाशांश्छेतुं कथं समर्थः ? तद्यावन्मे दन्ता न शुष्यन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि । तदनन्तरमेपामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि ।’ चित्रग्रीव उवाच—‘अस्वेवम् । तथापि यथाशक्त्येतेपां बन्धनं खण्डय ।’ हिरण्यकेनोक्तम्—‘आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम् ।

यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीवके बंधन काटनेके लिये शीघ्र पास आया। चित्रग्रीव बोला—‘मित्र ! ऐसा मत करो, पहिले मेरे इन आश्रितोंके बन्धन काटो, मेरा बन्धन पीछे काटना’ । हिरण्यकने भी कहा—‘मित्र ! मैं निर्वल हू । और मेरे दातभी कोमल हैं, इसलिये इन सबोंके बंधन काटनेके लिये कैसे समर्थ हू ? इसलिये जब तक मेरे दात नहीं टूटेंगे तब तक तुमारा फंदा काटता हू । पीछे इनकेभी बंधन जहा तक कट सकेंगे तब तक काटगा’ चित्रग्रीव बोला—‘यह ठीक है, तोभी यथाशक्ति पहिले इनके काटो’ । हिरण्यकने कहा—‘अपनेको छोड़ कर अपने आश्रितोंकी रक्षा करना यह नीति जानने वालोंकी समति नहीं है, यतः—

आपदर्थं धनं रक्षेदारान् रक्षेद्धनैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेदारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

क्योंकि—मनुष्यको आपत्तिके लिये धनकी, धन देकर स्त्रीकी, और धन तथा स्त्री देकर अपनी रक्षा सर्वदा करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

औरभी देखो—जो, अनिल और मलमूत्रसे भरे हुए शरीरसे निर्मल और नेत्र यश मिले तो क्या नहीं मिला? अर्थात् सब कुछ मिला ॥ ४८ ॥

यतः,—

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।

शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥ ४९ ॥

क्योंकि—शरीर तथा दयादि गुणोंमें बड़ा अन्तर है शरीर तो क्षणभंगुर है, और गुण कल्पके अन्त तक रहने वाले हैं ॥ ४९ ॥

इत्याकर्ष्य हिरण्यकः प्रहृष्टमना. पुलकितः सन्नव्रवीत्—‘साधु मित्र ! साधु । अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते’ । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान्सादर संपूज्याह—‘सखे चित्रग्रीव ! सर्वथात्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्कधात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या ।

यह सुनकर हिरण्यक प्रसन्नचित्त तथा पुलकायमान होकर बोला—‘धन्य है, मित्र ! धन्य है । इन आश्रितों पर दया विचारनेसे तो तुम तीनों लोककीही प्रभुताके योग्य हो’ । ऐसे कह कर उसने सबके बंधन काट डाले । पीछे हिरण्यक सबका आदर-सत्कार कर बोला—‘मित्र चित्रग्रीव ! इस जालबन्धनके विषयमें दोषकी शका कर अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ।

यतः,—

योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहामिपं खगः ।

स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ५० ॥

क्योंकि—जो पक्षी सैंकड़ों योजनसे भी अधिक दूरसे अन्नके दानेको या मासको देखता है वही बुरा समय आनेसे जालकी गाठको नहीं देखता है ॥ ५० ॥

अपरं च,—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं

गजभुजंगमयोरपि बन्धनम् ।

मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां

विधिरहो बलवानिति मे मतिः ! ॥ ५१ ॥

और दूसरे—चंद्रमा तथा सूर्यको ग्रहणकी पीडा, हाथी और सर्पका बंधन, और पण्डितोंकी दरिद्रता, देख कर मेरी तां समझमें यह आता है कि प्रारब्ध बलवान् है ! ॥ ५१ ॥

अन्यच्च,—

व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं

बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्या. समुद्रादपि ।

दुर्नातं किमिहास्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः

कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ! ॥ ५२ ॥

और आकाशके एकान्त स्थानमें विहार करने वाले पक्षीभी विपत्तिमें पड़ जाते हैं,

गयसोऽब्रवीत्—‘कथमेतत्?’ । हिरण्यकः कथयति—

कौवा बोला—‘यह कथा कैसे है?’ हिरण्यक कहने लगा—

॥ कथा २ ॥

“अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामारण्यानी । तस्यां चिरान्म-  
मिता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन्हृष्ट-  
प्राङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्त-  
यामास—‘आः, कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि? भवतु, विश्वासं  
वावदुत्पादयामि ।’ इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्—‘मित्र ! कुशलं

‘?’ मृगेणोक्तम्—‘कस्त्वम्?’ स ब्रूते—‘क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुको-  
वः । अत्रारण्ये वन्धुहीनो मृतवन्निवसामि । इदानीं त्वां मित्र-  
मासाद्य पुनः सवन्धुर्जावलोकं प्रविष्टोऽस्मि । अधुना तवानुचरेण  
वन्मया सर्वथा भवितव्यम्’ । मृगेणोक्तम्—‘एवमस्तु’ । ततः पश्चा-  
दस्तंगते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं  
प्राप्तौ । तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिर-  
मित्रं निवसति । तौ दृष्ट्वा काकोऽब्रवीत्—‘सखे चित्राङ्ग ! कोऽयं  
वृक्षद्वितीयः?’ मृगो ब्रूते—‘जम्बुकोऽयम् । अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः’ ।  
काको ब्रूते—‘मित्र ! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता ।

मगधदेशमें चम्पकवती नाम एक महान् अरण्य था उसमें बहुत दिनोंसे मृग  
और कौवा बड़े स्नेहसे रहते थे । किसी गीदड़ने उस मृगको हृष्टकष्ट और  
अपनी इच्छासे डधर उधर घूमना हुवा देखा इसको देख कर गीदड़ चिन्ता करने  
लगा—अरे, कैसे इस सुन्दर (मीठा) मांसको खाऊँ? जो हो, पहिले इसे विश्वास  
उत्पन्न कराऊँ । यह विचार कर उसके पास जाकर बोला—‘हे मित्र ! तुम  
कुशल हो?’ मृगने कहा—‘तू कौन है?’ वह बोला—‘मैं क्षुद्रबुद्धि नाम गीदड़ हूँ,  
इस वनमें वन्धुहीन मरेके समान रहता हूँ, और अब तुमसे मित्रको पाकर फिर  
इस ससारमें वन्धुसहित जी उठा हूँ और सब प्रकारसे तुमारा सेवक बन कर  
रहूंगा’ । मृगने कहा—‘ऐसाही हो, अर्थात् रहा कर । इसके अनन्तर फिरणोंकी  
मालसे शोभित भगवान् सूर्यके अस्त हो जानेपर वे दोनों मृगके घरको गये  
और वहां चपाके वृक्षकी डाल पर मृगका परम मित्र सुबुद्धि नाम कौवा रहता था ।  
कौएने इन दोनोंको देखकर कहा—‘मित्र ! यह चितकवरा दूमरा कौन है?’  
मृगने कहा—‘यह गीदड़ है । हमारे साथ मित्रता करनेकी इच्छासे आया है’ ।  
कौवा बोला—‘मित्र ! अनायास आए हुएके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये,  
तथा चोक्तम्,—

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित् ।

मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्वयः ॥ ५६ ॥

कहामी है कि—जिसका कुल और स्वभाव नहीं जाना है उसको घरमें कभी  
न ठहराना चाहिये । क्योंकि विलावके अपराधसे एक बूढ़ा गिद्ध मारा गया ॥५६॥

यतः,—

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्वचित् ।

व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

क्योंकि—केवल जातीसे क्या कभी कोई मारने अथवा सत्कार करने लायक होता है ? परतु व्यवहारको जान कर मारने अथवा पूजनेके योग्य होता है ॥५८॥

गृध्रो ब्रूते—‘ब्रूहि, किमर्थमागतोऽसि ?’ सोऽवदत्—‘अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाणी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । यूयं धर्मज्ञानरता विश्वासभूमय इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मश्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिर्थं हन्तुमुद्यताः !

गिद्ध बोला—‘कह, किमलिये आया है ?’ वह बोला—‘मैं यहा पर गंगाजीके किनारे नित्य स्नान करता हू । फलाहारी केवल तथा ब्रह्मचारी हू और चान्द्रायण व्रत करता हू । तुम्हारी धर्म तथा ज्ञानमें प्रीति है और विश्वासपात्र हो, इस प्रकार सब पक्षी सदा मेरे सामने तुम्हारी प्रशंसा किया करते हैं । तुम विद्या और अवस्थामें बड़े हो, इमलिये आपसे धर्म सुननेके लिये यहा आया हूं । और आप ऐसे धर्मी हैं कि मुझ अतिथिको मारनेके लिये तैयार हैं !

गृहस्थधर्मश्चैप.—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।

छेतुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५९ ॥

परन्तु गृहस्थधर्म तो यह है कि—अपने घर पर बैरीभी आवे तो उसका यथोचित आदर करना चाहिये, जैसे वृक्ष अपने काटने वालेके पास गई छायाको समेट नहीं लेता है ॥ ५९ ॥

यदि वा धनं नास्ति तदा प्रीतिवचसाप्यतिथिः पूज्य एव ।

जो धन न हो तो भीठे २ वचनोंसेही अतिथिका सत्कार करना चाहिये ।

यतः,—

तृणानि भूमिस्दकं वाक् चतुर्थी च स्रृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ६० ॥

क्यों कि—कुशाका आगन, बैठनेकी भूमि, जल, और चौथी सख और मीठी चाणी इनका सजनोंके घरमें कसी टोटा नहीं होता है ॥ ६० ॥

अपरं च,—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।

न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६१ ॥

और दूसरे—सज्जन लोग, गुणहीन प्राणियों परभी दया करते हैं । जैसे चन्द्रमा चाण्डालके घर पर पडी चादनीको नहीं समेट लेता है ॥ ६१ ॥

१ सावधान और जितेन्द्री होकर कृष्णपक्षमें एक २ ग्रास कम करे और शुक्लपक्षमें एक ० ग्राम बढ़ावे तथा त्रिकाल स्नान करे इतीको मनुने ‘चान्द्रायण-व्रत’ कहा है.

३ हितो०

“मुझे अवश्य मरना होगा” ऐसी चिन्तासे मनुष्यको जो दुःख होता है वह दुःख अनुमानसे दूसरा मनुष्य वर्णन नहीं कर सकता है ॥ ६७ ॥

शृणु पुनः,—

खच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।

अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ॥ ६८ ॥

फिर सुनो—जो पेट अपने आप उगी हुई साग-भाजीसे भरा जा सकता है उस जले पेटके लिये ऐसा बड़ा (भयकर) पाप कौन करे ? ॥ ६८ ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः ।

इस प्रकार विश्वास जना कर वह विलाव वृक्षके खोहड़में बैठ गया ।

ततो दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति । येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकात्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा । तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य वहिः पलायितः । पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिरस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि । अनन्तर त ऊचुः—“अनेनैव जरद्रवेनास्माकं शावकाः खादिताः” इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य गृध्रो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—“अज्ञातकुलशीलस्य—” इत्यादि ॥ इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—‘मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्यज्ञातकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तर वर्धते ?

और थोड़े दिन बीत जाने पर वह पक्षियोंके बच्चोंको पकड़ खोहड़में लाकर निल खाने लगा । जिन पक्षियोंके बच्चे खाये गये थे वे शोकसे व्याकुल विलाप करते हुए इधर उधर दूढ़ने लगे । विलाव यह जान कर खोहड़से निकल कर बाहर भाग गया । उसके पीछे इधर उधर दूढ़ते हुए पक्षियोंने उस पेड़की खोहड़में बच्चोंकी हड्डिया पाईं । फिर उन्होंने कहा की—“इस जरद्रवने हमारे बच्चे खाये हैं” । यह बात सब पक्षियोंने निश्चय करके उस गिद्धको मार डाला । इसीलिये मैं कहता हू कि—“जिसका कुल और स्वभाव” इत्यादि यह सुन वह सियार झुझल कर बोला—‘मृगसे पहिलेही मिलनेके दिन तुम्हाराभी तो जात और कुल नहीं जाना गया था, फिर किस प्रकार तुम्हारे साथ इसकी गाढी मित्रता क्रमसे बढ़ती जाती है ?

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।

निरस्तपादपे देत्रे परण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ६९ ॥

जहा पंडित नहीं होता है वहा थोड़े पटेकीभी बटाई होती है । जैसे कि जिस देशमें पेड़ नहीं होता है वहा अर्द्धाणका वृक्षही पेड़ गिना जाता है ॥ ६९ ॥

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७० ॥

और दूसरे यह अपना है या पराया है, यह अल्पबुद्धियोंकी गिनती है । उदारचरित वालोंको तो सब पृथ्वीही कुटुम्ब है ॥ ७० ॥

अपरं च,—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥ ७३ ॥

और दूसरे-विवाहादि उत्सवमें, आपत्तिमें, अकालमें, राज्यके पलटनेमें, राज-  
द्वारमें तथा श्मशानमें, जो साथ रहता है वह बान्धव है ॥ ७३ ॥

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्धः।'   
ब्रूते च—'सखे ! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः । तदद्य भद्रारकवारे   
कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा   
प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम् ।' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्मान-   
माच्छाद्य स्थितः सः । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनाग-   
तमवलोक्येतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं दृष्ट्वा च—'सखे ! किमे-   
तत् ?' मृगेणोक्तम्—'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत्,

तियार जालको बार बार देख सोचने लगा—'यह बड़ा कड़ा बंधा है'. और   
बोला—'मित्र ! ये फदे तातके बने हुए हैं, इसलिये आज ऐतवारके दिन इन्हें   
दातोसे कैसे छुड़ूँ ? मित्र ! जो बुरा न मानो तो प्रात काल जो कहोगे सो करूंगा' ।   
ऐसा कह कर उसके पासही वह अपनेको छिपा कर बैठ गया । पीछे वह कौवा   
साझको मृगको नहीं आया देख कर इधर उधर हड़ने लगा और इस प्रकार उसे   
( बधनमें ) देख कर बोला—'मित्र ! यह क्या है ?' मृगने कहा—'मित्रका कहा नहीं   
माननेका यह फल है,

तथा चोक्तम्,—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।

विपत्संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः' ॥ ७४ ॥

जैसा कहा है कि—जो मनुष्य अपने हितकारी मित्रोंका वचन नहीं सुनता है   
उसके पासही विपत्ति है, और वह अपने शत्रुओंको प्रसन्न करने वाला है' ॥७४॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः कास्ते ?' मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठ-   
त्यत्रैव' । काको ब्रूते—'उक्तमेव मया पूर्वम्;

कौवा बोला—'वह ठगिया कहा है ?' मृगने कहा—'मेरे मासका लोभी   
यहाही बैठा है' । कौवा बोला—'मैंने पहिलेही कहा था,—

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।

विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७५ ॥

'मेरा कुछ अपराध नहीं है' अर्थात् मैंने इसका कुछ नहीं विगाड़ा है, अत एव   
यहमी मेरे सग विश्वासघात न करेगा यह बात कुछ विश्वासक्य कारण नहीं   
है । क्योंकि गुण और दोषको विनाविचारे शत्रुता करने वाले नीचोंसे सज्जनोंको   
अवश्य भय होताही है ॥ ७५ ॥

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।

न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ ७६ ॥

है वैसेही यहमी गिरता है । जैसे दुष्ट पीठ पीछे बुराई करता है वैसेही यह भी पीठमें काटता है । जैसे दुष्ट कानके पास मीठी २ बात करता है वैसेही यह मी कानके पास मधुर विचित्र शब्द करता है । और जैसे दुष्ट आपत्तिको देख कर निडर हो बुराई करता है वैसेही मच्छर भी छिद्र अर्थात् रोमके छेदमें प्रवेश कर काटता है ॥ ८१ ॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।

मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥ ८२ ॥

और दुष्ट मनुष्यका प्रियवादी होना यह विश्वासका कारण नहीं है । उसकी जीभके आगे मिठान और हृदयमें हालाहल विष भरा है' ॥ ८२ ॥

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनाव-  
लोकितः । तमालोक्य काकेनोक्तम्—'सखे मृग ! त्वमात्मानं मृत-  
वत्संदर्श्य चातेनोदर पूरयित्वा पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ । यदाहं  
शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वर पलायिष्यसि ।' मृगस्तथैव  
काकवचनेन स्थितः । ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथा-  
विधो मृग आलोकितः । 'आः ! स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं  
बन्धनान्मोचयित्वा पाशान्ग्रहीतुं सयत्नो बभूव । ततः काकशब्दं  
श्रुत्वा मृगः सत्वरमुत्थाय पलायितः । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना  
क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो हतः ।

पीछे प्रात काल कौवेने उस खेत वालेको लकड़ी हाथमें लिये उस स्थान पर आता हुआ देखा उसे देख कर कौवेने मृगसे कहा—'मित्र हरिण ! तू अपने शरीरको मरेके समान दिखा कर पेटको हवासे फुला कर और पैरोंको ठिठिया कर बैठ जा । जब मैं शब्द करू तब तू झट उठ कर जल्दी भाग जाओ' मृग उसी प्रकार कौवेके वचनसे पट गया । फिर खेत वालेने प्रसन्नतासे आख खोल कर उस मृगको इस प्रकार देखा 'आहा ! यह तो आपही मर गया' ऐसा कह कर मृगकी फासीको खोल कर जालको समेटनेका यत्न करने लगा. पीछे कौवेका शब्द सुन कर मृग शीघ्र उठ कर भाग गया. इसको देख उस खेत वालेने ऐसी फेंक कर लकड़ी मारी कि उससे सियार मारा गया;

तथा चोक्तम्,—

त्रिभिर्वपैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।

अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८३ ॥

जैसा कहा है—प्राणी तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष, और तीन दिनमें, अधिक पाप और पुण्योंका फल यहाही भोगता है ॥ ८३ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—“भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः” इत्यादि' ॥

इसी लिये मैं कहता हूँ—“भोजन और भोजन करने वालेकी प्रीति” इत्यादि' ।

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।

नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९० ॥

जो बात नहीं हो सकती है वह कदापि नहीं हो सकती है, और जो हो सकती है वह होही सकती है, जैसे पानी पर गाड़ी नहीं चलती और जमीन पर नाव नहीं चल सकती है ॥ ९० ॥

अपरं च,—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।

भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९१ ॥

और दूसरे—जो मनुष्य अधिक प्रयोजनसे शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है उसके जीनेका मत आपहुँचा है ॥ ९१ ॥

लघुपतनको ब्रूते—‘श्रुतं मया सर्वम् । तथापि मम चैतावान्संकल्पस्त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयमिति । नो चेदनाहारेणात्मानं व्यापादयिष्यामि ।

लघुपतनक काँवा चोला—‘मैंने सब सुन लिया—तोमी मेरा इतना सकल्प है कि तेरे सग मित्रता अवश्य करनी चाहिये. नहीं तो भूखा मर अपघात करूँगा.

तथा हि,—

मृद्वटवत्सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघटवदुर्भेद्यश्चाशु संघेयः ॥ ९२ ॥

और देख—दुर्जन मनुष्य मट्टीके घडेके समान सहज टूट जा सकता है और फिर उसका जुड़ना कठिन है और सज्जन सोनेके घडेके समान है कि कमी टूट नहीं सकता और जो टूटे भी तो शीघ्र जुड़ सकता है ॥ ९२ ॥

किंच,—

द्रवत्वात्सर्धलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।

भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥ ९३ ॥

और सोना, चाँदी आदि वानुओंका गलनेसे, पशुपक्षियोंका पूर्वजन्मके सस्कारसे, मूर्खोंका भय और लोभसे, और सज्जनोंका केवल दर्शनसेही मेल होता है ॥ ९३ ॥

किं च,—

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुदृज्जनाः ।

अन्ये च दरिकाकारा वहिरेव मनोहराः ॥ ९४ ॥

और सज्जन पुरुष नारियलके समान बाहरसे दीखते हैं अर्थात् ऊपरसे सख्त और भीतरसे मीठे, और दुर्जन बेरफलेके आकारके समान बाहरहीसे मनोहर होते हैं ॥ ९४ ॥

खेदच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।

भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुवद्मन्ति तन्तवः ॥ ९५ ॥



यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।

नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥ ९० ॥

॥ जो वात नहीं हो सकती है वह कदापि नहीं हो सकती है, और जो हो सकती है वह होही सकती है, जैसे पानी पर गाड़ी नहीं चलती और जमीन पर नाव नहीं चल सकती है ॥ ९० ॥

अपरं च,—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।

भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९१ ॥

॥ और दूसरे—जो मनुष्य अधिक प्रयोजनसे शत्रुओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों पर विश्वास करता है उसके जीनेका अंत आपहुँचा है ॥ ९१ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वम् । तथापि मम चैतावान्संकल्पस्त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयमिति । नो चेदनाहारेणात्मानं व्यापादयिष्यामि ।

लघुपतनक कौवा बोला—'मैंने सब सुन लिया—तोमी मेरा इतना संकल्प है कि तेरे संग मित्रता अवश्य करनी चाहिये. नहीं तो भूखा मर अपघात करूंगा.

तथा हि,—

मृद्धवत्सुखभेद्यो दुःसंघानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघटवद्भुर्भेद्यश्चाशु संघेयः ॥ ९२ ॥

॥ और देख—दुर्जन मनुष्य मर्दके घड़ेके समान सहज टूट जा सकता है और फिर उसका जुड़ना कठिन है. और सजन सोनेके घटेके समान है कि कभी टूट नहीं सकता और जो टूटे भी तो शीघ्र जुड़ सकता है ॥ ९२ ॥

किंच,—

द्रवत्वात्सर्धलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।

भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥ ९३ ॥

॥ और सोना, चादी आदि धातुओंका गलनेसे, पशुपक्षियोंका पूर्वजन्मके संस्कारसे, मूर्खोंका भय और लोभसे, और सजनोंका केवल दर्शनसेही मेल होता है ॥ ९३ ॥

किं च,—

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।

अन्ये बदरिकाकारा वहिरेव मनोहराः ॥ ९४ ॥

॥ और सजन पुरुष नारियलके समान बाहरसे देखते हैं अर्थात् ऊपरसे सख्त और भीतरसे नीचे, और दुर्जन बेरफलके आकारके समान बाहरहीसे मनोहर होते हैं ॥ ९४ ॥

ओहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।

भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुवद्भन्ति तन्तवः ॥ ९५ ॥

परं च,—

अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः ।

प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०० ॥

और दूसरे—निष्कपट चित्त वालेकी मित्रता औरही भातिकी होती है और जेसका हृदय शठतासे विगड़ रहा है उसकी वाणी औरही प्रकारकी होती है ॥

मनस्यन्यद्बचस्यन्यत्कार्यमन्यहुरात्मनाम् ।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०१ ॥

दुर्जनोके मनमें कुछ, वचनमें और काममें कुछ, और सज्जनोके जीमें, वच-  
में और काममें एक बात होती है ॥ १०१ ॥

‘इवतु भवतोऽभिमतमेव ।’ इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय  
भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं  
गतः । ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैर्विथ्रम्भा-  
त्तपैश्च कालोऽतिवर्तते ।

इसलिये तेराही मनोरथ होय ।’ यह कह कर हिरण्यक मित्रता करके भाति  
भातिके भोजनसे कौवेको सतुष्ट करके विल्में धुम गया । और कौवाभी अपने  
स्थानको चला गया । उस दिनसे उन दोनोंका आपसमें भोजनके देने—लेनेसे,  
कुशल पूछनेसे और विश्वासयुक्त बातचीतसे समय कटने लगा ।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—‘सखे ! कष्टतरलभ्याहार-  
मिदं स्थानं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि ।’ हिरण्यको  
ब्रूते—‘मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?

एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—‘मित्र ! इस स्थानमें बड़ी कष्टकल्प-  
नासे भोजन मिलता है, इस लिये इस स्थानको छोड़ कर दूसरे स्थानमें जाया चाह-  
ता हूँ ।’ हिरण्यकने कहा—‘मित्र ! कहा जाओगे ?

तथा चोक्तम्,—

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।

नाऽसमीक्ष्य पर स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥ १०२ ॥

ऐसा कहा है कि—बुद्धिमान् एक परसे चलता है और दूसरेसे ठहरता  
है । इसलिये दूसरे स्थान निश्चय किये विना पहिला स्थान नहीं छोड़ना  
चाहिये ॥ १०२ ॥

वायसो ब्रूते—‘अस्ति सुनिरूपितस्थानम् ।’ हिरण्यकोऽवदत्—‘किं  
तत् ?’ वायसो ब्रूते—‘अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः  
तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभिधानः कच्छपो  
धार्मिकः प्रतिवसति ।

कौवा बोला—‘एक अच्छी भाति देखा भाला स्थान है ।’ हिरण्यक बोला—  
‘कौनसा है ?’ कौवा कहने लगा कि—‘दण्डकवनमें कर्पूरगौर नाम एक सरोवर है,  
उसमें मन्थरानाम एक धर्मशील कछुआ मेरा बड़ा पुराना प्यारा मित्र रहता है ।’

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।

पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥ १०८ ॥

॥ ब्राह्मणोंको अग्नि, चारों वर्णोंको ब्राह्मण, स्त्रियोंको पति और सर्वोंको अभ्यागत  
॥ दा पूजनीय है ॥ १०८ ॥

यसोऽवदत्—‘सखे मन्थर! सविशेषपूजामस्यै विधेहि । यतो-  
॥ पुण्यकर्मणा धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूपिक-  
जः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न  
॥ दाचित्कथयितुं समर्थः स्यात् ।’ इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं  
॥ र्णितवान् । मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—‘भद्र! आत्मनो  
॥ र्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि ।’ हिरण्यकोऽवदत्—‘कथ-  
॥ मि । श्रूयताम्,—

॥ कौआ बोला—‘मित्र मन्थर ! इसका अधिक सत्कार कर, क्योंकि यह पुण्या-  
॥ आँका मुखिया और करुणाका समुद्र हिरण्यक नाम चूहोंका राजा है । इसके  
॥ गोंकी बढाई दो सहस्र जीमोंसे शेष नागमी कमी नहीं कर सकता है’ । यह  
॥ ह कर चित्रग्रीवका वृत्तान्त कह सुनाया । मन्थर बड़े आदरसे हिरण्यकका  
॥ त्कार करके पूछने लगा—‘हे मित्र ! इस निर्जन वनमें अपने आनेका भेद तो  
॥ हो’ । हिरण्यक बोला—‘मैं कहता हू, सुनो—

## ॥ कथा ४ ॥

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः । तत्र  
॥ चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति । स च भोजनावशिष्टभिक्षा-  
॥ सहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति । अहं च तद्-  
॥ मुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्द्वीणाकर्णो नाम  
॥ परिव्राजकः समायातः । तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं  
॥ र्जंरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । वीणाकर्ण उवाच—  
॥ सखे ! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासको भवान् ?’ चूडाकर्ण-  
॥ तोक्तम्—‘मित्र ! नाहं विरक्तः । किंतु पश्यायं मूपिको ममापकारी  
॥ सदा पात्रस्यं भिक्षाघ्नमुत्प्लुत्य भक्षयति ।’ वीणाकर्णो नागदन्तकं  
॥ विलोक्याह—‘कथं मूपिकः स्वल्पवलोऽप्येतावद्दूरमुत्पतति ? तदत्र  
॥ केनापि कारणेन भवितव्यम् ।

चम्पका नाम नगरीमें सन्यासियोंकी एक बस्ती है । वहाँ चूडाकर्ण नाम  
सन्यासी रहता था । और वह भोजनसे बचेखुचे भिक्षाके अन्नसहित भिक्षा-  
पात्रको खड़ीपर टांग कर गोजाया करता था । और मैं उस भोजनके पदार्थको  
उछल उछल कर निल्व खाया करता था । उसके उपरान्त उसका प्रिय  
मित्र वीणाकर्ण नाम सन्यासी आया । चूडाकर्णने उसके साथ नानाभातिकी  
४ हितो०

च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान् ।  
 और वह वृद्ध पति उस पर अत्यन्त आसक्त था,

तः,—

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।

वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ ११२ ॥

क्योंकि-प्राणधारियोंको धन और जीवनकी बड़ी आशा होती है, लेकिन वृद्धोंको तरुण स्त्री प्राणोंसेभी अधिक प्यारी होती है ॥ ११२ ॥

नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी ।

अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम् ॥ ११३ ॥

वृद्ध मनुष्य न तो विषयोंको भोग सकता है और न त्यागभी कर सकता । जैसे दतहीन कुत्ता हड्डीको चबा नहीं सकता है, केवल जीभसे चाटता ॥ ११३ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलमर्यादा केनापि  
 णिकपुत्रेण सहानुरागवती बभूव ।

फिर उस लीलावतीने यौवनके मदसे अपनी कुलकी मर्यादाको छोड़ किसी नियोके पुत्रसे प्रेमवश हुई.

तः,—

स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगति-

गौष्ठी पूरुपसंनिधावनियमो वासो विदेशे तथा ।

संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्दृचेर्निजाया. क्षतिः

पत्युर्वार्धकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियः ॥ ११४ ॥

क्योंकि-स्वतन्त्रता, पिताके घरमें रहना, यात्रा आदि उत्सवमें किसीका संग मिलना, पुरुषके साथ गप लडाना, नियममें न रहना, परदेशमें रहना, अभिचारिणी स्त्रियोंका सहवानमें रहना, बार बार अपने सचरित्रका खोना, पतिका वृद्ध होना, ईर्ष्या करना, और स्वामीका परदेशमें रहना ये स्त्रियोंके नाश(विगटने)के कारण हैं ॥ ११४ ॥

परं च,—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।

स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि पट्ट ॥ ११५ ॥

और दूसरे—मद्यपान, दुष्ट लोगोंका सहवास, पतिका विरह, इधर उधर भ्रमते रहना, दूसरेके घरमें सोना अगर रहना, ये छ स्त्रियोंके दूषण हैं ॥ ११५ ॥

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः । ✓

तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ ११६ ॥

हे नारद ! (व्यभिचारके लिये) एकात स्थान, मौका और प्रार्थना करने वाला मनुष्य इनके न होनेसे स्त्रियोंका पतिव्रतधर्म रहता है ॥ ११६ ॥

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते ।

गावस्तृणमिचारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ ११७ ॥

‘इयमेनमुपगूढवती’ इति ततस्तया कुटन्या तत्कारणं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता, अतोऽहं ब्रवीमि—‘अकस्माद्युवती च्छम्’ इत्यादि । मूषिकवलोपष्टम्भेन केनापि कारणेनात्र वितव्यम् ।’

बूढे पतिका अनायास आलिंगन देख कर पास बैठने वाली कुटनी चिंता करने लगी कि, ‘यह जवान औरत इस बूढेको क्यों भला लिपट गई?’ फिर उस कुटनीने उसका कारण जान कर उस लीलावतीको अकेलेमें डाटा, इसलिये मैं कहता हूँ—“अचानक युवा स्त्रीने बूढको” इत्यादि ॥ चूहेको बलका अहंकार यहां परभी किसी न किसी कारणसेही है ॥

‘अणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—‘कारणं चात्र धनबाहुल्यमेव विविष्यति ।

थोड़ी देर विचार कर सन्यासीने कहा—‘इसमें धनकी अधिकताका कारण होगा,

ततः,—

‘धनवान्वलवांल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते’ ॥ १२३ ॥

क्योंकि—सर्वत्र, ससारमें सब मनुष्य धनसेही सदा बलवान् होते हैं और राजाओंकी प्रभुताकी जड़ धनही होता है ॥ १२३ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन विवरं खनित्वा चिरसंचितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहार-मप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः ।

तेन फिर कुदाली ला कर उसने विलेको खोद कर मेरा बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ धन ले लिया । उसी दिनसे अपनी सामर्थ्यसे हीन, बल और उत्साहसे रहित अपना आहारभी ढूढनेके अयोग्य मुझे डरके मारे धीरे धीरे चलते हुएको चूडाकर्णने देखा ॥

ततस्तेनोक्तम्—

‘धनेन बलवांल्लोके धनाद्भवति पण्डितः ।

पश्येनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ १२४ ॥

फिर उसने कहा कि, दुनियामें आदनी धनसे बलवान् और धनसेही पण्डित होता है ॥ इस पापी चूहेको देखो (धनहीन होनेसे) अपनी जातिके समान हो गया ॥ १२४ ॥

किं च,—

अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।

क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति त्रीप्से कुसरितो यथा ॥ १२५ ॥

और धनसे रहित बुद्धिहीन मनुष्यके तो सब काम बिगड़ जाते हैं, जैसे नदीकी ऋतुमें छोटी छोटी नदिया (सूख जा कर बिगड़ जाती हैं) ॥ १२५ ॥

औरमी—आयु, धन, घरका भेद, गुप्त वात, मैथुन, औषधि, तप, दान और  
मान, इन नौ बातोंको यत्नसे गुप्त रखना चाहिये ॥ १३१ ॥

या चोक्तम्,—

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थं यत्ने च पौरुषे ।

मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कृतः सुखम् ॥ १३२ ॥

जैसा कहा है कि—प्रारब्धके विमुख होने पर और पुरुषार्थ और यत्नके  
फल होने पर धैर्यवान् दरिद्री मनुष्यको वनको छोड़ और कहां सुख धरा है ?  
पाने उसको स्वदेश छोड़ कर कहाही वनमें जाना यही उचित है ॥ १३२ ॥

अन्यच्च,—

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।

अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥ १३३ ॥

और दूसरे—उदार पुरुष मर जाय पर कृपणता नहीं करता है ( लचारी  
वत्ताता है ) जैसे अग्नि भले बुझ जाय, पर ठडी नहीं होती है ॥ १३३ ॥

के च,—

कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।

सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १३४ ॥

और पुष्पोंका गुच्छेके समान उदार मनुष्यकी दो तरहकी प्रकृति होती है.  
कि या तो सबके शिर पर रहे या वनमें कुहल जाय ॥ १३४ ॥

यच्चात्रैव याञ्जया जीवनं तदतीव गर्हितम् ।

और जो यहा याचना कर जीना है वहमी अच्छा नहीं है,

यतः—

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।

नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥ १३५ ॥

क्योंकि—धनहीन मनुष्य प्राणोंको अग्निमें शौंक दे सो अच्छा, परन्तु अपने  
मानको छोड़ कर कृपण मनुष्यसे याचना करना अच्छा नहीं है ॥ १३५ ॥

दारिद्र्याद्धियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते

निःसत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।

निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते

निर्वुद्धिः क्षयमेत्यहो निघनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १३६ ॥

और निर्धनतासे मनुष्यको लजा होती है, लजासे पराक्रम नष्ट हो जाता है,  
पराक्रम न होनेसे अपमान होता है, अपमान होनेसे दु ख पाता है, दु खसे शोक  
करता है, शोकसे बुद्धिहीन हो जाता है, और बुद्धि न होनेसे नाश हो जाता  
है । अहो ! निर्धनता सब आपत्तियोंका स्थान है ॥ १३६ ॥

किं च,—

वर मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं

वरं क्लैव्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।

यह सोच कर भी लोभसे फिर उसका धन लेनेकी हठ करी ।

तथा चोक्तम्,—

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।

तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १४२ ॥

जैसा कहा है—लोभसे बुद्धि चल जाती है, लोभही तृष्णाको बढ़ाता है, और तृष्णासे दुखी मनुष्य इस लोक और परलोकमें कष्ट पाता है ॥ १४२ ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन नाडितश्चाचिन्तयम्—

फिर उस वीणाकर्णेने धीरे धीरे मुझ चलते हुएको एक सडे वासका टटोंगा मारा, और मैं विंता करने लगा—

धनलुब्धो ह्यसंतुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।

सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ १४३ ॥

जिसको सतोप नहीं है उसको सब आपत्तिया ही हैं, क्योंकि वह धनका लोभी अप्रसन्न, दुचित्त और अजितेन्द्री हो जाता है ॥ १४३ ॥

तथा च,—

सर्वाः संपत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।

उपानद्रूपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥ १४४ ॥

और—जिसका मन सतोप है उसको सब सपत्तिया हैं जैसे पैरमें जूता पहरे हुयेको सब पृथ्वी चर्ममयी दीखती है ॥ १४४ ॥

अपरं च,—

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।

कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १४५ ॥

और दूसरे—सतोपरूपी अमृतसे अघाये हुए शातचित्त वालोंको जो सुख है, वह सुख इधर उधर फिरने वाले धनके लोभियोंको कहा घरा है ॥ १४५ ॥

किंच,—

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।

येनाशाः पृष्टतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १४६ ॥

और—जिसने आशाको पीछे कर निराशाका सहारा लिया है, उसीने पड़ा, उसीने सुना, और उसीने सब कुठ कर लिया ॥ १४६ ॥

अपि च,—

असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथाम् ।

अनुक्तह्रीवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १४७ ॥

औरभी—जिनने धनवान्के द्वारकी सेवा नहीं की, विरहके दुखको नहीं देखा, और कभी दीन वचन सुखसे नहीं कहे, ऐसे किसी मनुष्यका जीना धन्य है ॥ १४७ ॥

हेरना अच्छा है पर भाई बन्धुओंके बीचमें धनहीन जीना अच्छा नहीं  
॥ १५३ ॥

तोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्यानुगृहीतः । अधुना  
पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः ।

फिर मेरे पुण्यके उदयसे इस मित्रने परम स्नेहसे मेरा आदर किया और अव  
प्यकी रीतिसे तुम्हारा आश्रय मुझे स्वर्गके समान मिल गया.

यतः,—

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले ।

काव्यामृतरसाखादः संगमः सुजनैः सह ॥ १५४ ॥

क्योंकि—संसाररूपी विषवृक्षके दोही रसीले फल हैं अर्थात् एक तो  
व्यरूपी अमृतके रसका खाद और दूसरा सज्जनोंका संग ॥ १५४ ॥

अथ उवाच—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-

मायुष्यं जललोलविन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम् ।

धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं !

पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १५५ ॥

सघर बोला—वन तो चरणोंकी धूलिके समान है, यौवन पहाड़की नदीके वेगके  
प्रमान है, आयु चंचल जलकी विन्दुके समान चपल है और जीवन फेन (झाग)के  
प्रमान है, इसलिये जो निर्बुद्धि स्वर्गकी आगलको खोलने वाले धर्मको नहीं करता  
है वह पीछे बुढ़ापेमें पछता कर शोककी अग्निसे जलाया जाता है ॥ १५५ ॥

युष्माभिरतिसंचयः कृतः । तस्यायं दोषः, शृणु,—

तुमने बहुतसा संचय किया था उसका यह दोष है ॥ सुनो,—

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५६ ॥

गभीर सरोवरमें भरे हुए जलके चारों ओर निकलनेके (वारवार जल निकाल  
देना जैसा सरोवरकी शुद्धिका कारण है, उसीके) समान कमाये हुए धनका  
सत्पात्रमें दान करनाही रक्षा है ॥ १५६ ॥

अन्यच्च,—

यद्घोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितंपचः ।

तद्घोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५७ ॥

और दूसरे—लोभी जिस धनको घरतीमें अधिक नीचे गाड़ता है वह धन  
पातालमें जानेके लिये पहिलेसेही मार्ग कर लेता है ॥ १५७ ॥

अन्यच्च,—

निजसौर्यं निरन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।

परार्थं भारवाहीव ह्येशस्येव हि भाजनम् ॥ १५८ ॥

और जो मनुष्य अपने सुखको रोक कर धनसंचय करनेकी इच्छा करता है



गमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान् । ततस्तेन व्यापादितं मृग-  
दाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । तेन व्याधेन मृगं भूमौ  
घाय शूकरः शरेणाहतः । शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स  
घो मुष्कदेशे हतः संश्लिन्नद्रुम इव भूमौ निपपात ।

कल्याणकटक वल्लीमें एक भैरव नाम व्याध (बहलिया) रहता था । वह एक  
न मृगको हड़ता हड़ता विन्ध्याचलकी बनीमें गया । फिर मारे हुए मृगको  
कर जाते हुए उसने एक भयकर शूकरको देखा । तब उस व्याधने मृगको भूमि  
रख कर शूकरको बाणसे मारा । शूकरनेमी भयकर गर्जना करके उस  
धके मुष्कदेशमें ऐसी ठक्कर मारी कि, वह कटे हुए पेड़के समान जमीन पर  
र पड़ा ।

नः,—

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुध्याधिः पतनं गिरेः ।

निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥ १६५ ॥

क्योंकि—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, रोग और पहाड़से गिरना इनमेंसे  
किसी न किसी बहानेको पा कर प्राणी प्राणोंसे छूटता है ॥ १६५ ॥

अथ तयोः पादास्फालनेन सर्पोऽपि मृतः । अथानन्तरं दीर्घरावो  
गम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्याधसर्पशूकरान-  
दृश्यत् । अचिन्तयच्च—‘अहो ! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम् ।

उन दोनोंके परोंकी रगडसे एक सर्पमी मर गया । इसके पीछे आहारको  
पाहने वाले दीर्घराव नाम गीदडने घूमते २ उन मृग, व्याध, सर्प, और शूकरको  
देखे हुए देखा और विचारा कि ‘आहा ! आज तो मेरे लिये बड़ा भोजन  
यार है ॥

अथवा,—

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् ।

सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ १६६ ॥

अथवा—जैसे देहधारियोंको अनायास दुःख मिलते हैं वैसेही सुखमी मिलते  
हैं, परन्तु इसमें प्रारब्ध बलवान् है ऐसा मानता हू ॥ १६६ ॥

तद्भवतु । एषां मासैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति ।

जो कुछ हो, इसके मासोंसे मेरे तीन महीने सुखसे कटेंगे ।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ ।

अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो घनर्गुणः ॥ १६७ ॥

एक महीनेको मनुष्य ( बहलिया ) होगा, दो महीनेको हरिण और सूकर होंगे  
और एक दिनको सर्प होगा, और आज धनुषकी डोरी चावनी चाहिये ॥ १६७ ॥

ततः प्रथमवृभुक्षायामिदं निःस्वाद् फोदण्डलशं स्नायुबन्धनं  
खादामि ।’ इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धनं उत्पति-  
५ हितो०

और दूसरे-शास्त्रकी विधि, उद्योग(पराक्रम)से ढरे हुए मनुष्यको कुछ गुण (तायदा) नहीं करती है, जैसे इस ससार में हाथ पर धरा हुआभी दीपक, लौके वस्तु नहीं दिखाता है ॥ १७२ ॥

दत्र सखे ! दशाविशेषे शान्तिः करणीया । एतदप्यतिकष्टं त्वया मन्तव्यम् ।

इसलिये हे मित्र ! इस शेष दशामें शान्ति करनी चाहिये । और इसेभी अधिक क्लेश तुमको नहीं मानना चाहिये ।

तः,—

राजा कुलवधूर्विप्रा मन्त्रिणश्च पयोधराः ।

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ॥ १७३ ॥

क्योंकि—राजा, कुलकी वधू, ब्राह्मण, मंत्री, स्तन, दंत, केश, नख और नुप्य ये स्थानसे अलग हुए शोभा नहीं देते हैं ॥ १७३ ॥

ति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत् । कापुरुषवचनमेतत् ।

यह जान कर बुद्धिमानको अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहिये । यह कायर पुरुषका वचन है ।

तः,—

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।

तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १७४ ॥

क्योंकि—सिंह, सज्जन पुरुष, और हाथी, ये स्थानको छोड़ कर जाते हैं और काका, कायर पुरुष, और मृग, ये वहाही नाश होते हैं ॥ १७४ ॥

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा

यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।

यद्दृष्टानखलाङ्गलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते

तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १७५ ॥

वीर और उद्योगी पुरुषोंको देश और विदेश क्या है ? अर्थात् जैसा देश वसाही विदेश । वह तो जिस देशमें रहते हैं उसीको अपने बाहुके प्रतापसे जीत लेते हैं जैसे सिंह जिस वनमें दात, नख, पूछसे प्रहार करता हुआ फिरता है उसी वनमें मारे हुए हाथियोंके रुधिरसे अपनी प्यास बुझाता है ॥ १७५ ॥

अपरं च,—

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।

सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥ १७६ ॥

और जैसे मूँटक कूपके पासके पानीके गट्टेमें और पक्षी भरे हुए सरोवरको आते हैं, वैसेही सब सम्पत्तिया अपने आप उद्योगी पुरुषके पास आती हैं ॥ १७६ ॥

आजीविकाके लिये बहुत उद्योग नहीं करना चाहिये, वह तो विघाताने श्रय कर दी है, क्योंकि प्राणीके गर्भसे निकलतेही माताके स्तनोंसे दूध कलने लगता है ॥ १८२ ॥

पि च सखे !,—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।

मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥ १८३ ॥

और भी हे मित्र ! जिसने हंसोंको सफेद, तोतोंको हरा और मोरोंको विचित्र नाया है वही तेरी आजीविकाको देगा ॥ १८३ ॥

पर च, सतां रहस्यं शृणु, मित्र !

और दूसरे-हे मित्र ! सज्जनोंका गुप्त मंत्र सुन ।

जगद्यन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।

मोहयन्ति च लंपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ? ॥ १८४ ॥

जो दमानेने दुःख जोर आपत्तियोंमें सताप करते हैं, और अधिक बढनेसे दाध कर देते हैं ऐसे वन कैसे सुखदायक हो सकते हैं ? ॥ १८४ ॥

पर च,—

वमार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।

प्रक्षालनाद्धि पक्वस्य दूराद्स्पर्शनं वरम् ॥ १८५ ॥

और वमंके लिये जिसको धनकी इच्छा है, उनको वनकी लालसा न होना अच्छा है, क्योंकि कीचडको (छू कर) धोनेसेभी, उनका दूरसे स्पर्श न करनाही अच्छा है ॥ १८५ ॥

तः,—

यथा ह्यामिपमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।

भक्ष्यते सलिले नकैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १८६ ॥

क्योंकि—जैसे आकाशमें पक्षी, पृथ्वी पर सिंह आदि, और जलमें मगर आदि मासको खाते हैं, वैसेही सर्वत्र धनवान् (ज्वारी चोर इत्यादिका भोजन) है, अर्थात् ये उसे दृष्टते ठगते हैं ॥ १८६ ॥

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।

भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ १८७ ॥

धनवानोंको राजा, जल, अग्नि, चोर, और अपने जनोंसे, हमेशा ऐसा भय रहता है कि जैसा प्राणियोंको मृत्युसे ॥ १८७ ॥

तथा हि,—

जन्मनि ह्येशवहूले किं नु दुःखमतः परम् ।

इच्छासंपद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥ १८८ ॥

और ( मनुष्यको ) जन्म लेनेमेंही बहुत क्लेश है, इनसे अधिक दुःख होगा कि जिसमें इच्छाके अनुसार संपत्ति नहीं है और जिसमें इच्छा दूर होती है ॥ १८८ ॥

अन्यच्च भ्रातः ! शृणु,—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।

लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १८९ ॥

और दूसरे-हे भाई ! सुनो-पढ़िले तो धनका मिलना कठिन, और मिले जाय तो फिर उसकी रखवाली कष्टसे होती है । और मिले हुए धनका मृत्युके नशान हैं, इसलिये इस(धनलाभ)की चिन्ता न करनी चाहिये ॥ १८९ ॥

वृष्णां चेत परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ।

तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरशि स्थितम् ॥ १९० ॥

और हम नगरमें वृष्णाको त्याग देनेसे तीन दरिरी और तीन धनवानों और जो उसको आत्मशय दिया सोही शिरसाई शिर पर बँधी है ॥ १९० ॥

अपरं न,—

ययदेव हि वाञ्छेन ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।

प्राप्त पयार्थनः गोऽयं यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १९१ ॥

जैसे जब जिस वस्तुमें इच्छा होती है तब तब तक लामगी आशा रहती है और तब तक वह वस्तु किसी उपायसे मिल जाय तब इच्छा निवृत्त होती है ॥ १९१ ॥ किं वञ्चना पशुपानेन ? मयैव सहाय कालो भीयताम ।

और नरे अथ पशुपानसे क्या है ? मेरेही साथ यही समय मिलता है, यतः—

तः,—

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां

स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।

यस्यार्थिनो वा शरणागता वा

नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ १९४ ॥

पृथ्वी पर पुरुषोंमें वही एक प्रशंसा पानेके योग्य है, वही उत्तम सज्जन पुरुष और वही धन्य है कि जिसके पाससे याचक अथवा शरणागत लोक निराश कर विमुख नहीं फिर जाते हैं ॥ १९४ ॥

इवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः संतुष्टाः सुखं निवसन्ति ।

तब वे इस प्रकार अपने इच्छानुसार खाते-पीते खेलते-कूदते सतोष कर बसे रहने लगे ॥

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मि-  
थतः । ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य भयं संचिन्त्य मन्थरो  
लं प्रविष्टः, मूपिकश्च विवरं गतः । काकोऽप्युड्वीय वृक्षमारूढः ।  
तो लघुपतनकेन सुदूरं निरुप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचि-  
म् । पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः ।  
न्यरेणोक्तम्—‘भद्रम्, मृग ! स्वागतम् । स्वेच्छयोदकाद्याहारो-  
नुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम् ।’ चित्राङ्गो  
ते—‘लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणागतः । भवद्भिः सह  
त्यमिच्छामि ।’ हिरण्यकोऽवदत्—‘मित्रत्वं तावदस्माभिः सह  
वताऽयत्नेन मिलितम् ।

फिर एक दिन चित्रांग नाम मृग किसीके डरके मारे उनसे आ कर मिला।  
उके पीछे मृगको आता हुआ देख भयको सोच मन्थर तो पानीमें धुस गया,  
हा विलेमें चला गया और काकभी उड़ कर पेड़ पर जा बैठा । फिर लघुपतनकने  
इसे निर्णय करके कि, भयका कोईभी कारण नहीं है यह विचारा । पीछे  
सके वचनसे आकर सब मिल कर बहाही बैठ गये । मन्थरने कहा—‘कुशल हो ।  
मृग ! तुम्हारा आना अच्छा हुआ । अपनी इच्छानुसार जल आहार आदि  
योग करो अर्थात् खाओ, पीओ और यहा रह कर इस वनको सनाथ करो’ ।  
चित्रांग बोला—‘व्याधके डरसे मैं तुम्हारी शरण आया हूँ और तुम्हारे साथ  
मेघ्रता किया चाहता हूँ । हिरण्यक बोला—‘मित्रता तो हमारे साथ तुम्हारी  
सनाथास हो गई है,

तः,—

औरसं कृतसंवन्धं तथा वंशक्रमागतम् !

रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १९५ ॥

क्योंकि-मित्र चार प्रकारके होते हैं, एक तो औरस अर्थात् जन्मसेही हों  
जैसे पुत्रादि, और दूसरे विवाहादि संवन्धसे हो गये हों और तीसरे कुल-पर-  
म्परा से आए हुए हों, और चौथे वे जो आपत्तियोंसे बचावें ॥ १९५ ॥

और ( मनुष्यको ) जन्म लेनेमेंही बहुत क्लेश है, इससे अधिक और दु ख होगा कि जिसमें इच्छाके अनुसार सपत्ति नहीं है और जिसमें इच्छा दूर होती है ॥ १८८ ॥

अन्यच्च भ्रातः ! शृणु,—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।

लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १८९

और दूसरे—हे भाई ! सुनो—पढिंले तो धनका मिलना कठिन, और मि जाय तो फिर उसकी रखवाली कष्टसे होती है । और मिळे हुए धनका मृत्युके समान है, इसलिये इस(धनलाभ)की चिन्ता न करनी चाहिये ॥१९

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ।

तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ॥ १९

और इस ससारमें तृष्णाको त्याग देनेसे कौन दरिद्री और कौन धनवान् और जो उसको अवकाश दिया सोही सेवकाई शिर पर बैठी है ॥ १९० ॥

अपर च,—

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।

प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १९१

और जब जिस वस्तुमें इच्छा होती है तब उसके लाभकी आशा होव और जब वह वस्तु किसी उपायसे मिल जाय तब इच्छा निवृत्त होती है ॥१९

किं बहुना पक्षपातेन ? मयैव सहात्र कालो नीयताम् ।

और मेरे अधिक पक्षपातसे क्या है ? मेरेही साथ यहां समय वितानो, यतः,—

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।

परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १९२

क्योंकि—महात्माओंका द्वेष मरने तक, क्रोध क्षणमात्र तक और परिः केवल सगरहित होता है अर्थात् कुछ बुराई नहीं करते हैं ॥ १९२ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—‘धन्योऽसि मन्यर ! सर्वथा श्ला गुणोऽसि ।

यह सुन कर लघुपतनक बोला—‘हे मन्यर ! तुम धन्य हो, और प्रशसनीय गुणवाले हो !

यतः,—

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।

गजानां पङ्कमज्ञानां गजा एव धुरंधराः ॥ १९३ ॥

क्योंकि—सज्जनही सज्जनोंकी आपत्तिको सर्वदा दूर करनेके योग्य होते हैं । कौचइसे फँसे हुए हाथियोंके निष्कलनेके लिये हाथीही समर्थ होते हैं ॥ १९

३;—

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां

स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।

यस्यार्थिनो वा शरणागता वा

नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥ १९४ ॥

पृथ्वी पर पुरुषोंमें वही एक प्रशंसा पानेके योग्य है, वही उत्तम सज्जन पुरुष और वही धन्य है कि जिसके पाससे याचक अथवा शरणागत लोक निराश कर विमुख नहीं फिर जाते हैं ॥ १९४ ॥

इवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः संतुष्टाः सुखं निवसन्ति ।

तव वे इस प्रकार अपने इच्छानुसार खाते-पीते खेलते-कूदते सतोष कर उसे रहने लगे ॥

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मि-  
तः । ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य भयं संचिन्त्य मन्थरो  
लं प्रविष्टः, मूपिकश्च विवरं गतः । काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः ।  
तो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचि-  
म् । पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः ।  
न्थरेणोक्तम्—‘भद्रम्, मृग ! स्वागतम् । स्वेच्छयोदकाद्याहारो-  
नुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम् ।’ चित्राङ्गो  
ते—‘लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणागतः । भवद्भिः सह  
ख्यमिच्छामि ।’ हिरण्यकोऽवदत्—‘मित्रत्वं तावदस्माभिः सह  
वताऽयत्नेन मिलितम् ।

फिर एक दिन चित्राग नाम मृग किसीके डरके मारे उनसे आ कर मिला.  
उके पीछे मृगको आता हुआ देख भयको सोच मन्थर तो पानीमें घुस गया,  
हा विलेमें चला गया और काकभी उड़ कर पेड़ पर जा बैठा । फिर लघुपतनकने  
से निर्णय करके कि, भयका कोईभी कारण नहीं है यह विचारा । पीछे  
सके वचनसे आकर सब मिल कर वहाही बैठ गये । मन्थरने कहा—‘कुशल हो ।  
मृग ! तुम्हारा आना अच्छा हुआ । अपनी इच्छानुसार जल आहार आदि  
लेग करो अर्थात् खाओ, पीओ और यहा रह कर इस वनको सनाथ करो’ ।  
चित्राग बोला—‘ब्याधके डरसे मैं तुम्हारी शरण आया हूँ और तुम्हारे साथ  
पत्रता किया चाहता हूँ । हिरण्यक बोला—‘मित्रता तो हमारे साथ तुम्हारी  
पनायास हो गई है,

तः,—

औरसं कृतसंवन्धं तथा वंशक्रमागतम् !

रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १९५ ॥

क्योंकि-मित्र चार प्रकारके होते हैं, एक तो औरस अर्थात् जन्मसेही हों  
जैसे पुत्रादि, और दूसरे विवाहादि संवन्धसे हो गये हों और तीसरे कुल-पर-  
परा से आए हुए हों, और चौथे वे जो आपत्तियोंसे बचावे ॥ १९५ ॥

तदत्रभवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम्' । तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नतरुच्छायाया मुपविष्टः । अथ मन्थरेणोक्तम्—'सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि ? कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति ?' मृगेणोक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविपये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः । स त्र दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासित कटको वर्तते । प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसर.समीपे भवितव्य मिति व्याधानां मुखार्त्किवदन्ती श्रूयते । तदत्रापि प्रातरवस्थान भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्' । तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'जलाशयान्तर गच्छामि' । काकमृगावयुक्तवन्तौ—'एवमस्तु' । ततो हिरण्यको विहस्याह—'जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम् । स्थले गच्छतः कः प्रतीकार. ?

इसलिये यहा तुम अपने घरसेभी अधिक आनन्दसे रहो । यह सुन कर लू प्रसन्न हो अपनी इच्छानुसार भोजन करके तथा जल पी कर जलके पास दूधसे छायामे बैठ गया ॥ मन्थरने कहा कि—'हे मित्र मृग ! इस निर्जन वनमें तुम्हें किसने डराया है ? क्या कभी कभी व्याध आ फिरते हैं ?' । मृगने कहा—'कलिङ्ग देशमें रुक्माङ्गद नाम राजा है । और वह दिग्विजय करनेके लिये आ स चन्द्रभागा नदीके तीर पर अपनी सेनाको टिका कर ठहरा है । और प्रात काल वह यहा आ कर कर्पूरसरोवरके पास ठहरेगा यह उदती हुई वात वहेलिवॉर मुखसे सुनी जाती है । इसलिये प्रात काल यहा रहनाभी भयका कारण है । यह सोच कर समयके अनुसार काम करना चाहिये' । यह सुन कर कछुआ उठ कर बोला—'मैं तो और सरोवरको जाता हूँ' । काग और मृगनेभी कहा—'ऐसा ही होय अर्थात् चलो' । फिर हिरण्यक हँस कर बोला—'दूसरे सरोवरमें पहुचने पर मथर जीता वचेगा । परतु इसके पटपड़मे चलनेका कौनसा उपाय है ?

यतः,—

अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।

स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां मन्त्री पर वलम् ॥ १९६ ॥

क्योंकि—जलके जन्तुओंको जलका, गढमें रहने वालोंको गढका, सिंहादि वन चरोंको अपनी भूमिका, और राजाओंको मन्त्रीका, परम बल होता है ॥१९६॥

सखे लघुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्,

हे सखे लघुपतनक ! इस उपदेशसे वह गति होगी,

स्वयं वीक्ष्य यथा बध्वाः पीडितं कुचकुडालम् ।

वणिक्पुत्रोऽभवहु.स्त्री त्वं तथैव भविष्यसि' ॥ १९७ ॥

जैसे कि एक वनिकेका पुत्र आपही अपनी स्त्रीके कमलकी फलीके समान कुच (दूसरेको) मसक्ते हुए देख कर दुखी हुआ, वैसेही तुम भी होगे ॥१९७॥



ऊचुः ।—‘कथमेतत्?’ हिरण्यकः कथयति—

वे दोनो पूछने लगे—‘यह कथा कैसी है?’ हिरण्यक कहने लगा—

### ॥ कथा ७ ॥

अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा । तेन वीरपुर-  
मि नगरे तुङ्गवलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः । स च  
हाघनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्य-  
तीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास । ततः स्वहर्म्यं गत्वा  
पराकुलमतिस्तस्याः कृते दूर्तीं प्रेषितवान् ।

कान्यकुब्ज देशमें एक वीरसेन नाम राजा था । उसने वीरपुर नाम नगरमें  
गवळ नाम राजपुत्रको युवराज कर दिया था । उस वड़े धनवान् तरुणने एक  
दैन नगरमें फिरते हुए एक नव-यौवनवती लावण्यवती नाम वनियेकी पुत्र-  
धूको देखा । फिर अपने राजभवनमें जा कर कामान्ध हो उसके लिये दूर्ती  
पेजी ।

यतः,—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां

लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।

भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते

यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुपो दृष्टिवाणाः पतन्ति ॥

क्योंकि—पुरुष तभी तक अच्छे मार्गमें रहता है, तभी तक इन्द्रियोंको वशमें  
रखता है, तभी तक लज्जा रखता है, और तभी तक नम्रताका सहारा करता है,  
कि, जब तक सुन्दर सुन्दर स्त्रियोंको भौंहरूपी धनुषसे खींच कर छोड़े गये और  
कानके मार्ग तक खींचे गये, वैर्यको तोड़ने वाले ये नीले पलकवाले नेत्ररूपी वाण  
हृदयमें नहीं लगते हैं ॥ १९८ ॥

सापि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्ज-  
रितहृदया तदेकचित्ताभवत् ।

उस लीलावतीनेभी जिस समयसे उसे देखा था उसी क्षणसे कामदेवके  
वाणोंके प्रहारसे जिसका हृदय छिद गया था ऐसी वह उसीके ध्यानमें लौलीन  
हो गई ।

तथा ह्युक्तम्,—

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता ।

निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ १९९ ॥

जैसा कहा भी है—झूठ, साहस, छल, ईर्ष्या, अत्यन्त लोभ, निर्गुणता और  
अशुद्धता, ये दोष स्त्रियोंके स्वभावहीसे होते हैं ॥ १९९ ॥

१ यह श्लोक दो पक्षमें लगता है अर्थात् धनुष और स्त्रीपक्षमें । धनुष और  
भौंहकी, नीलपलक और नीले पखकी, और नेत्र और वाणकी समता है ।

अथ दूतीचचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—‘अहं पतिव्रता क्व  
मेतस्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्ते ?

फिर दूतीकी बात सुन कर लावण्यवती बोली—‘मैं पतिव्रता हूँ, पतिके अन्ध  
करने वाले इस अधर्ममें कैसे प्रवृत्त होऊँ ?

यतः,—

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।

सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ २०० ॥

क्योंकि—जो गृहस्थाश्रमके कार्यमें कुशल, पुत्रवती, पतिको प्राणोंके सम  
समझने वाली, तथा पतिव्रता है वह ‘भार्या’ कहाती है ॥ २०० ॥

न सा भार्येति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।

तुष्टे भर्तरि नारीणां संतुष्टाः सर्वदेवताः ॥ २०१ ॥

जिससे पति संतुष्ट न हो वह भार्या नहीं कहाती है, क्योंकि ब्रि्योंके प्र  
संतुष्ट होनेसे सब देवता संतुष्ट होते हैं ॥ २०१ ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहमविचारितं करोमि ।

दूस्योक्तम्—‘सत्यतममेतत् ।’ लावण्यवत्युवाच—‘ध्रुवं सत्यमेतत् ।’

ततो दूतिकया गत्वा तत्तत्सर्वं तुङ्गवलयस्याग्रे निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा

तुङ्गवलोऽब्रवीत्—‘विषमेषुणा त्रणितहृदयस्तां विना कथमस्य

जीविष्यामि ?’ कुट्टन्याह—‘स्वामिनानीय समर्पयितव्ये’ति ।

प्राह—‘कथमेतच्छक्यम् ?’ कुट्टन्याह—‘उपायः क्रियताम् ।’

इसलिये जो जो मेरा पति मुझे आज्ञा देता है उसे विना विचारे करती

दूती बोली—‘यह बात बहुत सच्ची है ॥’ लावण्यवतीने कहा—‘वास्तवमें सचो है

फिर दूतीने जा कर यह सब समाचार तुंगवलके आगे जताया ॥ वह सुन

तुंगवलने कहा—‘तीक्ष्ण वाणसे डुकड़े डुकड़े हुए हृदय वाला मैं उसके विना

जिजंगा ?’ दूतीने कहा—‘उसका पति लाकर सौंप देगा,’ उसने कहा—‘यह

हो सकता है ?’ कुटनी बोली—‘उपाय कीजिये,

तथा चोक्तम्,—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।

शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ २०२ ॥

जैसा कहा भी है—जो बात उपायसे हो सकती है वह पराक्रमसे नहीं

सकती है, जैसे कीचडके मार्गसे जाते हुए हाथीको सियारने मार डाला ॥२०

राजपुत्रः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ सा कथयति—

राजपुत्र पूछने लगा—‘यह कथा कैसी है ?’ वह कहने लगी—

॥ कथा ८ ॥

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य

सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म—‘यद्ययं केनाप्युपायेन त्रियत्

तदास्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भविष्यति ।’ तत्रैकं

वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्—‘मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं सायं

व्यम् ।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा  
शङ्कपातं प्रणम्योवाच—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु' । हस्ती  
—'कस्त्वम्? कुतः समायातः?' सोऽवदत्—'जम्बुकोऽहम् ।  
विनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः यद्विना  
वस्थातुं न युक्तम्, तदान्नाटवीराज्येऽभिपेक्षुं भवान् सर्व-  
मिगुणोपेतो निरूपितः ।

ब्रह्मवनमें कर्पूरतिलक नाम हाथी था । उसको देख कर सब गीदड़ोंने सोचा  
'यह किसी उपायसे मारा जाय तो उसकी देहसे हमारा चार महीनेका भोजन  
' । उनमेंसे एक बूढ़े गीदड़ने इस बातकी प्रतिज्ञा करी—'मैं इसे बुद्धिके बलसे  
'गा । फिर उस वृत्तने कर्पूरतिलक हाथीके पास जा कर साष्टांग प्रणाम करके  
'—'महाराज ! कृपादृष्टि कीजिये ।' हाथी बोला—'तू कौन है? कहासे  
'या है?' वह बोला—'मैं गीदड़ हूं,' सब वनके रहने वाले पशुओंने पचायत  
'के आपके पास भेजा है, कि विना राजाके यहा रहना योग्य नहीं है  
'लिये इस वनके राज्य पर राजाके सब गुणोंसे शोभायमान आपको राजतिलक  
'नेका निश्चय किया है.

३:—

यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।

धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥ २०३ ॥

क्योंकि—जो कुलाचार और लोकाचारमें निपुण होय तथा प्रतापी, धर्मशील,  
र नीतिमें कुशल हो वह पृथ्वी पर राजा होनेके योग्य होता है ॥ २०३ ॥

पर च पश्य,—

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्या ततो धनम् ।

राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम्? ॥२०४॥

और देखो—पहिले राजाको दृढता चाहिये, फिर स्त्री और उसके बाद धनको  
द, क्योंकि राजाके नहीं होनेसे इस दुनियामें कहासे स्त्री और कहासे धन  
ल सकता है? ॥ २०४ ॥

न्यच,—

पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।

विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ २०५ ॥

और दूसरे—राजा, प्राणियोंको मेघके समान जीवनका सहारा है और मेघके  
हीं बरसनेसे तो लोक जीता रहता है, परन्तु राजाके न होनेसे जी नहीं  
रता है ॥ २०५ ॥

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-

जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः ।

कृशमपि विकलं वा व्याधितं चाऽधनं वा

पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याभ्युपैति ॥ २०६ ॥

इस परवश ( अर्थात् राजाके आधीन ) इस ससारमे बहुधा दडके भरे लोग अपने नियत कार्योंमें लगे रहते हैं और नहीं तो अच्छे आचरणमें न ध्योका रहना कठिन है । क्योंकि दडकेही भयसे कुलकी धी दुबले, विकृत ( अर्थात् लगबे लड़े ) रोगी या निर्धनभी पतिभो खीकार करती है ॥ २० ।

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन इत्युक्तवोत्थाय चलितः । ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिलकशृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्न । ततस्तेन हस्तिनोक्तम्— 'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? पङ्के निपतितोऽहं त्रिवेपरावृत्य पश्य' । शृगालेन विहस्योक्तम्— 'देव ! मम पुच्छकावलम्बकृत्वोत्तिष्ठ । यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतमशरणं दुःखम् ।

इस लिये, जिसमें लग्नकी घडी न टल जाय शीघ्र आप पधारिये । यह ख उठ कर चला फिर यह कर्पूरतिलक राज्यके लोभमें फँस कर शृगालके पीछे पद दौड़ता हुआ गाडी कीचडमें फँस गया । फिर उस हाथीने कहा— 'मित्र गीद ! अब क्या करना चाहिये ? कीचडमें गिर कर मैं मरता हूँ । लौट कर देख ।' गीदने हस कर कहा— 'महाराज ! मेरी पूंछका सहारा पकड़ कर उठो, जैसा मुझ सरीखे वात पर विश्वास किया तैसा शरणरहित दुःख भुगतो ।

तथा चोक्तम्,—

यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि ।

तदाऽसज्जनतोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि' ॥ २०७ ॥

जैसा कहा है—जब बुरे सगसे बचोगे तब जानो जिओगे, और जो दुष्टोंके सगतमें पडोगे तो मरोगे ॥ २०७ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः । अतोऽहं त्रवीप्सि— "उपायेन हि यच्छक्यम्" इत्यादि । ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार । ततोऽसौ तं सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः ।

फिर बडी कीचडमें फँसे हुए हाथीको गीदडोंने खा लिया । इसलिये मैं खता हूँ—कि "उपायसे जो हो सकता है" इत्यादि फिर उस राजपुत्रने कुट्टनके उपदेशसे चारुदत्त नाम बनियेके पुत्रको सेवक बनाया । पीछे इसको उसने सब विश्वासके कार्योंमें नियुक्त कर दिया ।

एकदा तेन राजपुत्रेण ज्ञातानुलिप्तेन कनकरत्नालंकारधारिणा प्रोक्तम्— 'अद्यारभ्य मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम् । तदा प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय । सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या ।' ततः स चारुदत्तस्तथाविधं नवयुवतीमानीय समर्पयति । पश्चात्प्रच्छन्नः सन्किमयं करोतीति निरूपयति । स च तुङ्गवल्गुना युवतीमस्पृशन्नेव दूष

खालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति ।  
 य वणिक्पुत्रेण तद्दृष्टोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववर्धु-  
 वण्यवती समानीय समर्पिता । स च तुङ्गवल्स्तां हृदयप्रियां  
 वण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्य निमीलि-  
 क्षः पर्यङ्के तथा सह विललास । तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्र-  
 खित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विपादमुपगतः । अतोऽहं  
 भीमि—“स्वयं वीक्ष्य” इत्यादि । तथा त्वयापि भवितव्यम्  
 ते । तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं  
 लाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः । तेऽपि हिरण्यकादयः  
 द्वादनिष्टं शङ्कमाना मन्थरमनुगच्छन्ति । ततः स्थले गच्छन्के-  
 अपि व्याधेन काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः । प्राप्य तं गृहीत्वो-  
 ग्गप्य धनुषि बद्धा भ्रमन्केशात्श्रुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं  
 लितः । अथ मृगवायसमूपकाः परं विपादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः ।

एक दिन कुट्टनीके उपदेशसे उस राजपुत्रने न्हा धो कर और देहमे चन्दन  
 आदि सुगन्ध द्रव्य लगा कर और सुवर्णके रत्नजटित आभूषणोंको पहिर कर  
 हा—‘चारुदत्त ! आजसे लेकर एक मास तक मुझे पार्वतीजीका व्रत करना है ।  
 पलिये आजसे यहां निल रातको एक कुलीन जवान स्त्री मुझे ला दिया कर,  
 उसकी यथोचित रीतिसे पूजा करूंगा’ ॥ फिर वह चारुदत्त वैसीही नव-  
 वान स्त्री ला कर दिया करता था । पीछे आप छुप कर देखता रहता था, कि  
 वह क्या करता है और वह तुगवल उस जवान स्त्रीको विनाही छुए दूरसे बह,  
 आभूषण, गन्ध चन्दनादिसे पूजा करके और रखवाला साथ दे कर विदा कर  
 या करता था । फिर उस वनियेके पुत्रने यह देख विश्वाससे और चित्तमें  
 भीमके मारे अपनी स्त्री लावण्यवती ला कर दे दिया । और उस तुगवलने उसे  
 आणप्यारी लावण्यवती जान कर शीघ्रतासे उठ गाढा आलिंगन कर आनन्दसे  
 त्रोंको कुछ वन्द-सा कर पलग पर उमके साथ विलास किया । यह देख कर  
 नियेकर वेटा चित्र लिखेके समान हो कर इस कार्यमें मूर्ख बन अधिक दुःखी  
 आ । इसलिये मैं कहता हू कि, “आप देख कर” इत्यादि । और तुम भी वैसीही  
 दुःखी होगे ।’ उसके हितकारक वचनको न मान कर बड़े भयसे मूर्खकी भांति वह  
 मन्थर उस सरोवरको छोड़ कर चला । वे हिरण्यक आदिमी नेहसे विपत्तिकी  
 प्राप्ति करते हुए मन्थरके पीछे पीछे चले । फिर पटपड़में जाते हुए मन्थरको,  
 मनमें घूमते हुए किटी व्याधसे पाया । वह उसे पा कर और उठा कर धनुषमें  
 बांध घूमता हुआ केशसे उत्पन्न हुई क्षुधा और प्याससे व्याकुल, अपने घरकी  
 ओर चला । पीछे मृग, वाक और चूहा, ये बड़ा विपाद करते हुए उसके पीछे  
 पीछे चले.

ततो हिरण्यको विलपति—

‘एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं  
गच्छाम्यहं पारमित्राणवस्य ।

तावद्वितीयं समुपस्थितं मे  
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २०८ ॥

फिर हिरण्यक विलाप करने लगा—‘समुद्रके पारके समान नि सीन  
दु खके पार जब तक मैं नहीं जाता हू तब तक मेरे लिये दूसरा दु ख  
कर उपस्थित हो जाता है, क्योंकि अनर्थ (आपत्ति)के साथ बहुत-से अनर्थ  
पडते हैं ॥ २०८ ॥

स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।  
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ २०९ ॥

स्वभावसे जेह करने वाला (अकृत्रिम) मित्र तो प्रारब्धसेही मिलता है  
जो सच्ची मित्रताको आपत्तियोंमेंभी नहीं छोड़ता है ॥ २०९ ॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।

विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्ङित्रे स्वभावजे’ ॥ २१० ॥

न मातामें, न स्त्रीमें, न सगे भाईमें, और न पुत्रमें ऐसा विश्वास होता है  
जैसा स्वाभाविक मित्रमें होता है ॥ २१० ॥

इति मुहुर्विचिन्त्य ‘अहो दुर्दैवम् !

ये वारवार सोच कर (बोला)—‘अहो दुर्भाग्य है !

यतः,—

स्वकर्मसंतानविचेष्टितानि  
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि ।

इहैव दृष्टानि मयैव तानि

जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ २११ ॥

क्योंकि—इस ससारमें अपने पापपुण्योंसे किये गये और समयके उरू  
पलटसे बदलने वाले सुखदु ख, पूर्वजन्मके किये हुये पापपुण्यके फलके सार  
मैंने यहाही देख लिये ॥ २११ ॥

अथवेत्थमेवैतत्,—

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।

समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ २१२ ॥

अथवा यह ऐसेही है—शरीरके पासही उसका नाश है और संपत्तिया  
तियोंका मुख्य स्थान हैं और सयोगके साथ वियोग है, अर्थात् अस्थिर है  
उत्पन्न हुआ सब नाश होने वाला है ॥ २१२ ॥

पुनर्विमृश्याह—

‘शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।

केन रत्नमिदं सृष्टं ‘मित्र’मित्यक्षरद्वयम् ॥ २१३ ॥

और विचार कर बोला—‘शोक, और शत्रुके भयसे बचाने वाला, तथा प्रीति  
और विश्वासका पात्र, यह दो अक्षरका ‘मित्र’रूपी रत्न किसने रचा है ॥ २१३ ॥

च,—

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः

पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तदुर्लभम् ।

ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुला-

स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकपग्रावा तु तेषां विपत्' ॥२१४॥

और अजनके समान नेत्रोंको प्रसन्न करने वाला, चित्तको आनन्द देने वाला और मित्रके साथ सुखदुःखमें साथ देने वाला, अर्थात् दुःखमें दुःखी, सुखमें सुखी ऐसा मित्र होना दुर्लभ है, और सपत्ति(चलती)के समयमें धन हरने वाले न हर जगह मिलते हैं, परन्तु विपत्कालही उनके परखनेकी कसौटी है' ॥२१४॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनात्त निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम् ।' त्वूचतुः—'सत्वरं कार्यमुच्यताम् ।' हिरण्यको वृते—'चित्राङ्गो लसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु । काकश्च तस्योपरि श्रुत्वा चञ्चवा किमपि विलिखतु । नूनमनेन लुब्धकेन तत्र च्छपं परित्यज्य मृगमांसार्थिना सत्वरं गन्तव्यम् । ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्यामि । संनिहिते लुब्धके भवद्भ्रूयां लायितव्यम् ।' चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते प्रति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथा-  
यं मृगमपश्यत् । ततः कर्तारिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं गतः । तत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम् । । कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश । स मृग आसन्नं तं व्याधं ग्लोक्योत्थाय पलायितः । प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत्तरुतलमा-  
गति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्य-  
नरिणः ।

इस प्रकार बहुत-सा विलाप करके हिरण्यकने चित्राग और लघुपतनकसे कहा—'जब तक यह व्याध वनसे न निकल जाय तब तक मन्थरको छुड़ानेका यत्न करो ।' वे दोनों बोड़े—'शीघ्र कार्यको कहिये ।' हिरण्यक बोला—'चित्राग जलके पास जा कर मरेके समान अपना शरीर दिखावे और काक उस पर बैठके चोंचसे कुछ कुछ खोदे, यह व्याध कछुएको अवश्य वहा छोड़ कर मृगके मासका लोभसे शीघ्र जायगा । फिर मैं मन्थरके बंधन काट डालूंगा । और सब व्याध तुम्हारे पास आवे तब भाग जाना ।' जब चित्राग और लघुपतनकने शीघ्र जा कर वसाही किया तब उस व्याधने पानी पी कर एक पेड़के नीचे बैठ कर मृगको उस प्रकार देखा । फिर छुरी लेकर आनदित होकर मृगके पास गया । इतनेहीनें हिरण्यकने आ कर कछुएका बंधन काट डाला । तब वह कछुआ शीघ्र चरोवरनें घुस गया । वह मृग उस व्याधको पास देख उठ कर भाग गया ।

जब व्याध लौट कर पेड़के नीचे आया, तब कछुएको न देख कर चिता लगा—‘मेरे समान बिना विचार करने वालेके लिये यही उचित था ।

यतः,—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥ २१५ ॥

क्योंकि—जो निश्चितको छोड़ अनिश्चित पदार्थका आश्रय करता है निश्चित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, और अनिश्चितमी जाता रहता है’ ॥ २१

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयः  
त्यक्तापदः स्वस्थानं गत्वा तथा सुखमास्थिताः ॥

फिर वह अपने प्रारब्धको दोष लगाता हुआ निराश होकर अपने घर मन्थर आदिमी सब आपत्तिसे निकल अपने अपने स्थान पर जा कर सुखसे लगे ।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—‘सर्वे श्रुतवन्तः सुखिनो वयं  
सिद्धं नः समीहितम् ।’ विष्णुशर्मोवाच—‘पतावता भवताम  
लषितं संपन्नम् ।

पीछे राजपुत्र प्रसन्न होकर कहने लगे—‘हमने सब सुना और सुखी हमारा कार्य सिद्ध हुआ ।’ विष्णुशर्मा बोले—‘इतना आपका मनोरथ पूरा हुआ है  
अपरमपीदमस्तु—

मित्रं प्राप्तुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां

भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।

आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोदेव वः

कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाश्चन्द्रार्धचूडामणिः ॥२१

इति हितोपदेशे मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासंग्रहः समाप्तः

यह औरमी होय—सज्जन लोग मित्रको पावे, नगरनिवासी लक्ष्मीको राजा लोग सदा अपने धर्ममें रह कर पृथ्वीको रक्षण करें, आपकी नीति नवनेत्रीके समान पण्डितोंके चित्तको प्रसन्न करें और भगवान् महादेवजी का कल्याण करें ॥ २१६ ॥

प० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेश ग्रंथके मित्रलाभ नामक पहिले

अध्यायका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ शुभम्



# हितोपदेशः ।

॥ सुहृद्भेदः २ ॥

अथ राजपुत्रा ऊचुः—‘आर्य! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः ।  
तानी सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः ।’ विष्णुशर्मावाच—‘सुहृद्भेदं  
वच्छृणुत,

फिर राजपुत्र बोले कि—‘गुरुजी ! मित्रलाभ तो हम सुन चुके, अब सुहृद्भेद  
॥ चाहते हैं ।’ विष्णुशर्मा बोले—‘सुहृद्भेद सुनिये,

सायमाद्यः श्लोकः—

वर्धमानो महास्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने ।

पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः’ ॥ १ ॥

उसका पहिला वाक्य यह है—वनमें सिंह और बलक वडा स्नेह वढ गया  
, उसे वृत् और अति लोभी गीदडने छुडवा दिया’ ॥ १ ॥

जपुत्रैरुक्तम्—‘कथमेतत्?’ विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—‘यह कथा कैसे है?’ विष्णुशर्मा कहने लगे.

॥ कथा १ ॥

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्धमानो नाम  
णिशिवसति । तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्वन्धूनतिसमृद्धान्स-  
िक्ष्य पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्वभूव ।

दक्षिण दिशामे सुवर्णवती नाम नगरी है, उसमे वर्धमान नाम एक बनिया  
हता था । उसके पास बहुत-सा धनभी था, परन्तु अपने दूसरे भाईवन्धुओंको  
धिक धनवान् देख कर उसकी यह लालसा हुई कि और अधिक धन इकट्ठा  
रना चाहिये

तः,—

अयोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ? ।

उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

क्योंकि—अपनेसे नीचे नीचे अर्थात् दरिद्रियोंको देख कर किसकी महिमा  
हीं बढती है? अर्थात् सबको अभिमान बढ जाता है, और अपनेसे ऊपर ऊपर  
अर्थात् अधिक धनवानोंको देख कर सब लोग अपनेको दरिद्री समझते हैं ॥२॥

परं च,—

ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् ।

शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

और दूसरे—जिसके पास बहुत-सा धन है उस ब्रह्मघातक मनुष्यकाभी  
इत्कार होता है और चन्द्रमाके समान अतिनिर्मल वशमें उत्पन्न हुएभी निर्धन  
मनुष्यका अपमान किया जाता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च,—

अव्यवसायिनमलसं दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।

प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगृहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

और जैसे नवजवान स्त्री बूढ़े पतिको नहीं चाहती है वैसेही लक्ष्मी निरुद्योगी, आलसी, 'प्रारब्धमें जो लिखा है सो होगा' ऐसा भरौसा चुपचाप बैठने वाले, तथा साहसहीन मनुष्यको नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

अपि च,—

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।

संतोषो भीरुत्वं पद् व्याघाता महच्चवस्य ॥ ५ ॥

औरभी आलस्य, स्त्रीकी सेवा, रोगी रहना, जन्मभूमिका स्नेह, संतोष और डरपोकपन ये छ. बातें उन्नतिकी विघ्न करने वाली हैं ॥ ५ ॥

यतः,—

संपदा सुस्थितं मन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।

कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

क्योंकि—जो मनुष्य थोड़ीही संपत्तिसे अपनेको सुखी मानता है, विधु कृतकृत्य होकर उस मनुष्यकी उस संपत्तिको नहीं बढ़ाता है ॥ ६ ॥

अपरं च,—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

और निरुत्साही, आनन्दरहित, पराक्रमहीन तथा शत्रुको प्रसन्न करने के ऐसे पुत्रको कोई स्त्री न जने अर्थात् ऐसे पुत्रका जन्म न होनाही अच्छा है ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्,—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।

रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्बृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

जैसा कहा है—नहीं पाये धनके पानेकी इच्छा करना, पाये हुए धनको चोरी आदि नाशसे रक्षा करना, रक्षा किये हुए धनको व्यापार आदिसे बढ़ाना और अच्छी तरह बढ़ाए धनको सत्पात्रमें दान करना चाहिये ॥ ८ ॥

यतो लब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निघेरपि स्वयं विनाशः । अपि च । अवर्धमानश्चार्थः काश्चि स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोज्य एव सः ।

क्योंकि लाभकी इच्छा करने वालेको धन मिलताही है, एवं प्राप्त हुए धनकी रक्षा नहीं किये गये खजानेकाभी अपने आप नाश हो जाता है, औरभी यह धन कि—बढ़ाया नहीं गया धन कुछ कालमें थोड़ा थोड़ा व्यय हो कर कानलके समान नाश हो जाता है और नहीं भोगा गया भी वह धूभा है ।

था चोक्तम्,—

धनेन किं यो न ददाति नाश्रुते  
वलेन किं यश्च रिपून् वाधते ।  
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरे-

तिकमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

जैसा कहा है—धनसे क्या है? जो न देता है और न खाता है, बलसे ॥ है? जो वैरियोंको नहीं सताता है, शास्त्रसे क्या है? जो धर्मका आचरण ॥ करता है, और आत्मासे क्या है? जो जितेंद्रिय नहीं है ॥ ९ ॥

तः,—

जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।

स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

क्योंकि—जैसे जलकी एक एक बूदके गिरनेसे धीरे २ घड़ा भर जाता है वही ॥ ण सब प्रकारकी विद्याओंका, धनका और धर्मकाभी है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।

स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ ११ ॥

दान और भोगके बिना जिसके दिन जाते हैं वह छुहारकी धोंकनीके समान ॥ स लेता हुआभी मरेके समान है ॥ ११ ॥

इति संचिन्त्य नन्दकसंजीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य  
कटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः कश्मीरं प्रति ।

यह सोच कर नन्दक और सजीवक नाम दो बैलोंको जुएमें जोत कर और ॥ ळकेको नाना प्रकारकी वस्तुओंसे लाद कर व्यापारके लिये काश्मीरकी ओर गया ।

प्रत्यञ्च,—

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम् ।

अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

और दूसरे—काजलके कम कमसे घटनेको और वल्मीक नाम चींटीके सच- ॥ यको देख कर, दान, पढ़ना और कामधर्मोंमें दिनको सफल करना चाहिये ॥ १२ ॥

यत,—

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।

को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ? ॥ १३ ॥

क्योंकि—बलवानोंको अधिक बोझ क्या है? और उद्योग करने वालोंको क्या ॥ रूर है? और विद्यावानोंको विदेश क्या है? और मीठे बोलने वालोंको शत्रु ॥ कौन है? ॥ १३ ॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये संजीवको भग्नजानु  
निपतितः ।

फिर उस जाते हुएका, सुदुर्ग नाम गहरे वनमें, सजीवक घुटना दृष्टनेसे लि  
गया ।

तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

‘करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।

फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १३ ॥

उसे देख कर वर्धमान चिंता करने लगा—‘नीति जानने वाला इधर उबर  
भले ही व्यापार करे परंतु उसको लाभ वही होता है कि जितना विघनात्  
जीमें है ॥ १४ ॥

किन्तु,—

विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।

तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

परन्तु सब कार्योंका रोकने वाला सदेह त्यागनेके योग्य है, इसीलिये सदेहसे  
छोड़ कर, अपना कार्य सिद्ध करना चाहिये’ ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य संजीवकं तत्र परित्यज्य वर्धमानः पुनः स्वयं  
धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय धूर्तं  
नियोज्य चलितः । ततः संजीवकोऽपि कथंकथमपि खुरत्रये भ्र  
कृत्योत्थितः ।

यह विचार कर सजीवकको वहा छोड़ कर—फिर वर्धमान आप धर्मपुर नाम  
नगरमें जा कर एक दूसरे बड़े शरीर वाले बैलको ला कर जुएमें जोत कर चर  
दिया । फिर सजीवकभी बड़े कष्टसे तीन खुरोंके सहारे उठ खड़ा हुआ ।

यतः,—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च ।

तक्षकेणापि दृष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

क्योंकि—समुद्रमें डूबे हुएकी, पर्वतसे गिरे हुएकी और तक्षक नाम सर्पसे  
उसे हुएकी आयुही रक्षा करती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।

कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्रातकालो न जीवति ॥ १७ ॥

जो काल न होय तो सैकड़ों बाणोंके विघनेसेभी प्राणी नहीं मरता है और  
वो काल आ जाय तो कुशाकी नोकसे छूतेही मर जाता है ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं

सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः

कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १८ ॥

दैवसे रक्षा किया हुआ, बिना रक्षाके भी ठहरता (बच जाता) है, और अच्छी

रक्षा किया हुआ, दैवका मारा नहीं बचता है, जैसे वनमें छोड़ा हुआ यहीनभी जीता रहता है, घर पर उपाय करनेसेभी नहीं जीता है ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः खेच्छाहारविहारं कृत्वारण्यं  
म्यन्हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद । तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः  
भुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति ।

फिर कितनेही दिनोंके बाद सजीवक अपनी इच्छानुसार खा पी कर वनमें जाता फिरता हृष्ट पुष्ट हो कर ऊचे स्तरसे उकराने लगा, उसी वनमें पिङ्गलक एक सिंह अपनी भुजाओंसे पाये हुए राज्यका सुख भोग रहा था.

या चोक्तम्—

नाभिपेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।

विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

जैसा कहा है—मृगोंने सिंहका न तो राज्यतिलक किया और न संस्कार किया तु सिंह अपने आपही पराक्रमसे राज्यको पा कर मृगोंका राजा होना दिखलाता ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत् ।  
न च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगार्जितमिव संजीवक-  
र्दितमथावि । तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा स चकितः परिवृत्य  
वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूर्णो स्थितः । स च तथा-  
वेधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः ।  
तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—‘सखे करटक ! किमित्य-  
यमुदकार्यो स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते ?’  
करटको ब्रूते—‘मित्र दमनक ! अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते ।  
यदि तथा भवति तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम् ?  
यतोऽनेन राज्ञा विनापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां  
महदुःखमनुभूतम् ।

और वह एक दिन प्याससे व्याकुल होकर पानी पीनेके लिये यमुनाके किनारे पर गया । और वहा उस सिंहेने नवीन कुम्हनुकालके मेघकी गर्जनके समान सजीवकका उकराना सुना । यह सुन कर पानीके विना पिये वह घबराया सा लौट कर अपने स्थान पर आ कर और यह क्या है यह सोचता हुआ चुपका बैठ गया । और उसके मन्त्रीके बेटे दमनक और करटक दो गीदड़ोंने उसे वैसा बैठा देखा । उसको इस दशामें देख कर दमनकने करटकसे कहा—‘भाई करटक ! यह क्या बात है कि, प्यासा स्वामी पानीको विना पिये डरसे धीरे धीरे आ बैठा है ?’ करटक बोला—‘भाई दमनक ! हमारी समझसे तो इसकी सेवाही नहीं की जाती है । जो ऐसे बैठा भी है तो हमने स्वामीकी चेष्टाका निर्णय करनेसे

क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस राजासे विना अपराध बहुत काल तक विरह्य किये गये हम दोनोंने बड़ा दु ख सहा है ॥

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।  
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २० ॥

सेवासे धनको चाहने वाले सेवकोंने जो किया सो देख कि शरीरकी स्वतन्त्रताभी मूर्खोंने हार दी है ॥ २० ॥

अपरं च,—

शीतवातातपक्लेशान्सहन्ते यान्पराश्रिताः ।  
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

और दूसरे—जो पराये आसक्त हो कर जाड़ा, हवा और धूपमें दु खोंसे सहते हैं उस दु खके छोटेसे छोटे भागसे तप ( खल्पही दु ख सहन ) करके बुद्धिमान् सुखी हो सकता है ॥ २१ ॥

अन्यच्च,—

पतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।  
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृताः ॥ २२ ॥

और—स्वाधीनताका होनाही जन्मकी सफलता है, और जो पराधीन होने परभी जीते ( कहलाते ) हैं तो मरे कौनसे हैं ? अर्थात् वेही मरेके समान हैं जो पराधीन हो कर रहते हैं ॥ २२ ॥

अपरं च,—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।  
पवमाशाग्रहयस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २३ ॥

और दूसरे—धनवान् पुरुष, आशारूपी ग्रहसे भरमाये गये हुए याचकोंके साथ, इधर आ, चला जा, बैठ जा, खड़ा हो, बोल, चुपका रह इस तरह खेत किया करते हैं ॥ २३ ॥

किं च,—

अवुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।  
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

और जैसे वेदया औरोंके लिये सिंगार करती है वैसेही मूर्खोंनेभी धनके लाभके लिये अपनी आत्माको गुणवान् करके पराये उपकारके लिये कर रक्ता है ॥ २४ ॥

किञ्च,—

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।  
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

और जो दृष्टि स्वभावहीसे चपल है और मउ, मूत्र आदि नीची वस्तुओं परभी

गेरती है ऐसी स्वामीकी दृष्टिको सेवकलोग बहुत बडी करके मानते हैं ॥ २५ ॥  
परं च,—

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा  
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।

धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

और चुपचाप रहनेसे मूर्ख, बहुत बातें करनेसे चतुर होनेसे उन्मत्त अथवा  
॥तून, क्षमाशील होनेसे डरपोक, न सह सकनेसे नीतिरहित (अकुलीन) सर्वदा  
॥स रहनेसे ढीठ, और दूर रहनेसे घमडी कहलाता है इसलिये सेवान्धर्म बढ़ा  
ठठिन है, जो (सब क्लेश सहन करनेवाले) योगियोंसेभी नहीं हो सकता है २६  
विशेषतश्च,—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।

दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ? ॥ २७ ॥

और विशेष बात यह है कि—जो उन्नतिके लिये झुकता है, जीनेके लिये  
प्राणोंको गलाता है, और सुखके लिये दुःखी होता है, ऐसा सेवकको छोड़  
और कौन भला मूर्ख हो सकता है ? ॥ २७ ॥

दमनको ब्रूते—‘मित्र ! सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम् ।

यतः,—

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।

अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

दमनक बोला—‘मित्र ! कभी यह बात मनसेभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि  
स्वामियोंकी सेवा यत्नसे क्यों नहीं करनी चाहिये, जो सेवासे प्रसन्न हो कर शीघ्र  
(सेवकके) मनोरथ पूरे कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य,—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धृतसंपदः ।

उद्दण्डघवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी’ ॥ २९ ॥

और दूसरे देखो—स्वामीकी सेवा नहीं करने वालोंको चमरके दुलावसे युक्त  
ऐर्ध्व तथा ऊचे दड वाले ध्वज छत्र और घोडे हाथियोंकी सेना कहा धरी  
है ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते—‘तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण ? यतोऽव्यापा-  
रेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः ।

करटक बोला—‘तोभी हमको इस कामसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि अयोग्य  
कामोंमें (पडना) व्यापार करना सर्वथा लागनेके योग्य है ॥

पश्य,—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।

स भूमौ निहतः शक्ते फीलोत्पाटीव वानर.’ ॥ ३० ॥

देख—जो मनुष्य नहीं करनेके कामोंमें (पड़ना) व्यापार करना चाहता है वही कीलके उखाड़ने वाले वदरकी तरह मर कर धरती पर सोता है ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ करटकः कथयति—

दमनक पूछने लगा—‘यह कथा कैसे है ?’ तब करटक कहने लगा ।—

## ॥ कथा २ ॥

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः । तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियदूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः । तत्र बलवान्वानरसूथः क्रीडन्नागतः । एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः । तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे प्रविष्टम् । अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान् । आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं प्रवीमि—“अव्यापारेषु व्यापारम्” इत्यादि ॥ दमनको ब्रूते—‘तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम् ।’— करटको ब्रूते—‘सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु । यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या ।’

मगध देशमें धर्मारण्यके पास किसी भूमिमें शुभदत्त नामक कायस्थने एक मन्दिर बनवाना आरंभ किया था । वहां आरसे चीरा हुआ लट्ठा जो कितनीसे दूर तक फट रहा था, उस काटके दोनों भागोंके बीचमें बड़बड़े कील डोरी थी । वहा बलवान् वन्दरोंका झुंड खेलता हुआ आया । एक वन्दर मृत्युसे प्रेरित हुऐके समान उस लकड़ीकी सूटीको दोनों हाथोंसे पकड़ कर बैठ गया । वहा उसके लटकते हुए दोनों अडकोश, उस काटके दोनों भागोंमें सदमें लटक पड़े और फिर उसने स्वभावकी चंचलतासे बड़े बड़े उपाय करके सूटीको खींच लिया, और सूटीको खींचतेही उसके दोनों अडकोश पिच गये और वह मर गया ॥ इसलिये मैं कहता हूँ—“विना कामके कामोंमें पड़ना” इत्यादि ॥ दमनकने कहा—‘तोभी सेवकको स्वामीके कामका विचार अवश्य करना चाहिये ॥’ काटक बोला—‘जो सब काम पर अधिकारी प्रधान मन्त्री होय वही करे । क्योंकि सेवकको पराये कामकी चर्चा कभी नहीं करनी चाहिये ॥’

पदय,—

पराधिकारचर्चा यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया ।

स विपीदति चीत्काराद्गर्दमस्ताडितो यथा ॥ ३१ ॥

देख,—जो स्वामीके हितकी इच्छासे पराये अधिकारकी चर्चा करता है वही रकनेसे मारे गये गधेकी तरह मारा जाता है ॥ ३१ ॥

दमनकः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ करटको ब्रूते—

दमनक पूछने लगा—‘यह कथा कैसे है ?’ करटक कहने लगा ।—



॥ कथा २ ॥

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः । स चाभिनववय-  
क्या वध्वा सह चिर निधुवनं कृत्वा निर्भरमालिङ्ग्य प्रसुप्तः ।  
।दनन्तर तद्दृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः । तस्य प्राङ्गणे गर्दभो  
।द्विस्तिष्ठति, कुकुरश्चोपविष्टोऽस्ति । अथ गर्दभः श्वानमाह—  
‘सखे ! भवतस्तावदयं व्यापारः । तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा  
‘वामिनं न जागरयसि ?’ कुकुरो व्रूते—‘भद्र ! मम नियोगस्य  
‘वर्चा त्वया न कर्तव्या । त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं  
‘गृह्रक्षां करोमि । यतोऽयं चिरान्निवृत्तो ममोपयोगं न  
‘जानाति । तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः । यतो विना  
‘विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति ।’

। वनारसमें एक कर्पूरपट नामक बोधी रहता था । वह नवजवान अपनी छाँके  
। भाव बहुत काल तक विलास करके, और अत्यन्त छातीसे चिपटा कर सो गया ।  
। इसके बाद उसके घरके द्रव्यको चुरानेके लिये चोर अदर घुसा । उसके भाग-  
। नेमें एक गधा बसा था और एक कुत्ता भी बैठा था । इतनेमें गधेने टुत्तेसे  
। रुझा—‘मित्र ! यह तेरी फर्ज है, इनलिये क्यों नहीं ऊँचे शब्दने भोंक कर  
। ‘स्वामीको जगाता है ?’ कुत्ता बोला—‘भाई ! मेरे कामकी चर्चा तुझे नहीं करनी  
। ‘चाहिये, और क्या तू सचमुच नहीं जानता है कि जैसी मैं उनके घरकी रच-  
। ‘वाली रातदिन करता हूँ, कि जिस कारण यह बहुत कालसे निश्चित होकर मेरे  
। ‘उपयोगको नहीं मानता है ?’ इसलिये आजकर वह मेरे आहार देनेमें भी आदर  
। ‘(फिक्र) कम करता है । क्योंकि विना आपत्तिके देखें स्वामी सेवकों पर योडा  
। ‘आदर करते ह ।

। गर्दभो व्रूते—‘शृणु रे वर्यर !

याचते कार्यकाले य स किभृत्यः स किंसुहृत् ।’

। गया बोला—‘सुन रे मूर्ख ! जो कामके समय पर मॉगे वह निन्दित सेवक  
। ‘और निन्दित मित्र है’

। कुकुरो व्रूते—

‘भृत्यान्संभाषयेद्यस्तु कार्यकाले स किप्रभुः ॥ ३२ ॥

। कुत्ता बोला—‘जो काम अटगने पर सेवकोंसे ( केवल अपने स्वार्थके खातर )  
। ‘नीठी नीठी बातें करे वह तो निन्दित स्वामी है’ ॥ ३२ ॥

यतः,—

आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।

पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः ॥ ३३ ॥

। क्योंकि आश्रितोंके पालन-पोषणने, स्वामीकी सेवाने, धर्मकी सेवा (आचरण)  
। ‘करनेमें, और पुत्रके उत्पन्न करनेमें, प्रतिनिधि (एवजी) नहीं होते हैं, अर्थात् ये  
। ‘काम अपने आपही करनेके हैं, दूसरेसे करानेके योग्य नहीं ह’ ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—‘अरे दुष्टमते ! पापीयास्त्वं यद्विपत्तो

स्वामिकार्यं उपेक्षां करोषि । भवतु तावत्, यथा स्वामी जागरिष्यति तन्मया कर्तव्यम् ।

फिर गधा झुझला कर बोला—‘अरे दुष्टबुद्धि ! तू चड़ा पापी है, कि बिपत्ति स्वामीके काममें अनादर करता है । जो हो सो हो, जैसे स्वामी जागेगा सो अवश्य करूंगा ॥

यतः,—

पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् ।

स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया' ॥ ३४ ॥

क्योंकि—पीठके बल धूप खाय, पेटके बल अग्निसे तापे, स्वामीके न प्रकारसे (बफादारीसे) और परलोककी विना कपटसे सेवा करनी चाहिये ॥ ३४ ॥ इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः सरजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास । तेनासौ पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि—“पराधिकारचर्चाम्” इत्यादि ॥ पश्य । पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः स्वनियोगचर्चा क्रियताम् । ( विमृश्य ) कित्वद्य तथा चर्चयन् न प्रयोजनम् । यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति । दमनकः सकोपमाह—‘कथमाहारार्थी भवान्केवलं राजानं सेवते’ पतद्युक्तमुक्तं त्वया ।

यह कह कर उसने अत्यत रेकनेका शब्द किया । तब वह घोड़ी उम विपत्ति जाग उठा और नींद टूटनेके क्रोधके मारे उठ कर लकड़ीसे गधेसे मारा जिससे वह मर गया । इसलिये मैं कहता हूँ—“पराये अविकारिणी चर्चा” इत्यादि ॥ देख-पशुओंका डूबना हमारा काम है ॥ अपने कामकी चर्चा नो ( विचार कर ) परन्तु आज उस चर्चासे कुछ प्रयोजन नहीं ॥ क्योंकि बस दोनोंके भोजनसे बचा हुआ आहार बहुत धरा है ।’ दमनक क्रोधसे बोला—‘क्या तुम केवल भोजनकेही अर्था हो कर राजाकी सेवा करते हो ? यह तुम्हें अयोग्य कहा ।

यतः,—

सुहृदामुपकारकारणा-

द्विपतामप्यपकारकारणात् ।

नृपसंश्रय इष्यते बुधै-

जठरं को न विभर्ति केवलम् ॥ ३५ ॥

क्योंकि—मित्रोंके उपकारके लिये, और शत्रुओंके अपकारके लिये चतुर मनुष्य राजास्य आश्रय करते हैं (यानि अपने मित्र या जातका हितके लिये और शत्रुनाशके लियेही राजाश्रय किया जाता है) और केवल पेट हीन नहीं भरता है ॥ अर्थात् ममी भरते हैं ॥ ३५ ॥

जीविते यस्य जीवन्ति मित्रा मित्राणि वान्धवा ।

सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थं को न जीवति? ॥ ३६ ॥

जिसके जीनेसे ब्राह्मण, मित्र और भाई जीते हैं उसीका जीवन सफल है और केवल अपने (स्वार्थके) लिये कौन नहीं जीता है ? ॥ ३६ ॥

अपि च,—

यस्मिंजीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु । -

काकोऽपि किं न कुर्वते चञ्चवा स्वोदरपूरणम् ? ॥ ३७ ॥

औरभी—जिसके जीनेसे बहुतसे लोग जिये वह तो सचमुच जिया, और यो ! काकभी क्या चोंचसे अपना पेट नहीं भर लेता है ? ॥ ३७ ॥

अथ,—

पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।

कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ ३८ ॥

देख—कोई मनुष्य पाच पुराण में दासपनेको करने लगता है, कोई लाख में भरता है और कोई एक लाखमेंभी नहीं मिलता है ॥ ३८ ॥

अन्यच्च,—

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।

प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ? ॥ ३९ ॥

और दूसरे—मनुष्योंको समान जाति होने पर सेवकाई अति निन्दित है और सेवकोंमेंभी जो प्रथम अर्थात् सबका मुखिया नहीं है क्या वह जीते हुआमें गिना जाता है ? अर्थात् उसकी मरोंमेंही गिनती है ॥ ३९ ॥

तथा चोक्तम्,—

वाजिचारणलोहाना काष्ठपापाणवाससाम् ।

नारीपुरुषतोयानामन्तर महदन्तरम् ॥ ४० ॥

जैसा कहा है—घोड़ा, हाथी, लोहा, काष्ठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष और जल इस प्रत्येकमें बड़ा अन्तर है ॥ ४० ॥

तथा हि । स्वल्पमप्यतिरिच्यते ।

और उसी प्रकार—घोड़ाभी बहुत गिना जाता

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मासमप्यस्थिकं

श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य श्रुधः शान्तये ।

सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं

सर्वैः कुच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जन सत्त्वानुरूपं फलम् ॥ ४१ ॥

पुत्ता बोडी नस तथा चरकीसे मलिन विना मासकी हड्डीको पा कर उन्नीमें सतोष कर लेना है, कुछ उससे उसकी भूख दूर नहीं होती है, और सिंह गोदमें आये हुएभी त्रियारको छोड़ कर हाथीको मारता है इसलिये सब प्राणी ज्ञेशको सह कर भी अपने पराक्रमके अनुसार फलको चाहा करते हैं ॥ ४१ ॥

१ पुराण=८० कौडी याने एक पैसा, २४ कौडीकाभी एक पैसा माना जाता है.

अपरं च । सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य,—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं ✓

भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।

श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु

धीर विलोकयति चादुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

और दूसरे—स्वामी और सेवकका भेद देखो—कुत्ता, टुकड़ा देने वालोंक म पूछको हिलाता है, उनके चरणोंम गिरता है, बरती पर छेद कर अपना नु और पेट दिखाया करता है और श्रेष्ठ हाथी तो स्वामीको धीरजसे देखता और सौ सौ उपाय करनेसे खाता है ॥ ४२ ॥

किं च,—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-

र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।

तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः

काकोऽपि जीवति चिराय वलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

और शास्त्रज्ञान, पराक्रम, तथा यशसे विख्यात हो कर जो मनुष्य क्षणभर जीते हैं, उसी जीनेको इस दुनियामें पण्डित लोग सफल कहते हैं, और यों कभी बहुत दिन तक जीता है और वलिको खाता है ॥ ४३ ॥

अपरं च,—

यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे

दीने दयां न कुरुते न च वन्धुवर्गे ।

किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके

काकोऽपि जीवति चिराय वलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

और जो न पुत्र पर, न गुरु पर, न सेवकों पर, और न दीन बाधवा पर करता है उसके जीनेके फलसे मनुष्यलोकमें क्या है, और यों तो कभी बहुत माल तक जीता है और वलि खाता है अर्थात् केवल पेट भरनाही न नरा फल नहीं है ॥ ४४ ॥

अपरमपि,—

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः

श्रुतिसमयैर्वहुभिस्तिरस्कृतस्य ।

उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः

पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः? ॥ ४५ ॥

औरभी—हित और अहितके विचारमें मूर्ख, बहुतसे शास्त्रके ज्ञानमें री और जिसकी उच्छा केवल पेट भरनाही है ऐसे पुरुषरूप पशुमें और सव पशुमें क्या अंतर है अर्थात् ज्ञानसे हीन और भोजनका अर्थ मनुष्य पशु समान है ॥ ४५ ॥

करटको वृत्ते—‘आवा तावदप्रधानौ । तदप्याचयोः क्रिमत्

चारणया ? दमनको वृते—‘क्रियता कालेनामात्याः प्रधानता-  
धानता वा लभन्ते ।

करटक बोला—‘हम दोनों मत्री नहीं है फिर हमे इस विचारसे क्या ?’ दमनक  
ग—‘कुछ कालमें मत्री प्रधानता वा अप्रधानताको पाते हैं ।

१,—

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा- ✓  
द्भवत्युदारोऽभिमत. खलो वा ।  
लोके गुरुत्वं विपरीतता वा  
स्वचेष्टितान्येव नर नयन्ति ॥ ४६ ॥

क्योंकि—इन दुनियामे कोई किसीको स्वभावसे अर्थात् जन्मसे मुशील  
यवा दुष्ट नहीं होता है, परन्तु मनुष्यको अपने कर्मही बडप्पनमें अथवा  
चपनको पहुँचाते ह ॥ ४६ ॥

२च,—

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।  
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

और जैसे पर्वत पर बडे यत्नसे पापाणकी सिला चढाई जाती है और  
उनभरमें ढुल्ला दी जाती है वैसेही मनुष्यके चित्तकी वृत्तिभी गुण और दोषमें  
गाई और हटा ली जाती है अर्थात् मनुष्यकी उन्नति कठिनतासे और अवनति  
हजमें हो सकती है ॥ ४७ ॥

यात्यथोऽथो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।

कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारक. ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपनेही कर्मोंसे कुएके खोदने वालेके समान नीचे और राजभवनके  
पताने वालेके समान ऊपर जाता है, अर्थात् मनुष्य अपना उच्च (अच्छे) कर्मोंसे  
उन्नतिमें और हीन (खराब) कर्मोंसे अवनतिमें पाता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयन्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य । करटको वृते—‘अथ  
भवान्किं ब्रवीति ?’ स आह—‘अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः  
कुतोऽपि कारणात्सचकितः परिवृत्योपविष्टः ।’ करटको वृते—  
‘किं तत्त्वं जानासि ?’ दमनको वृते—‘किमत्राविदितमस्ति ?

इसलिये यह ठीक है कि सबकी आत्मा अपनेही यत्नके आधीन रहती है ।  
करटक बोला—‘तुम अब क्या कहते हो ?’ वह बोला—‘यह स्वामी पिङ्गलक किसी  
न किसी कारणसे घबराया-सा लौट करके आ बैठा है ।’ करटकने कहा—‘क्या  
तुम इसका भेद जानते हो ?’ दमनक बोला—‘इसमें नहीं जाननेकी क्या बात है ?’  
उक्तं च,—

उदीरितोऽर्थ. पशुनापि गृह्यते  
हयाथ नागाथ वहन्ति देशिता. ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः

परेङ्कितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

और कहा है—जताए हुए अभिप्रायको पशुभी समझ लेता है और हाके घोड़े और हाथीभी बोझा ढोते हैं । पण्डित बिनाही कहे मनकी बात तर्कसे लेता है, क्योंकि पराये चित्तका भेद जान लेनाही बुद्धियोंका फल है ॥ ४९ ॥

आकारैरिङ्कितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।

नेत्रवक्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

आकारसे, हृदयके भावसे, चालसे, कामसे, बोलनेसे और नेत्र और मुखविकारसे, औरोंके मनकी बात जान ली जाती है ॥ ५० ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञावलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि  
इस भयके समय पर बुद्धिके बलसे मैं इस स्वामीको अपना कर लूंगा ॥  
यतः,—

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।

आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ॥ ५१ ॥

क्योंकि—जो प्रसङ्गके समान वचनको, स्नेहके सदृश मित्रको और प्रसङ्गके सदृश क्रोधको समझता है वह बुद्धिमान् है ॥ ५१ ॥

करटकौ ब्रूते—‘सखे ! त्वं सेवानभिज्ञः ।

करटक बोल—‘मित्र ! तुम सेवा करना नहीं जानते हो ।

पश्य,—

अनाहृतो विशेष्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।

आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः ॥ ५२ ॥

देतो—जो मनुष्य बिना बुलाये घुसे, और बिना पूछे बहुत बोलता है, अपनेसे राजाका मित्र समझता है वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—‘भद्र ! कथमहं सेवानभिज्ञः ?

दमनक बोल—‘भाई ! मैं सेवा करना क्यों नहीं जानता हूँ ?

पश्य,—

क्रिमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दर वाप्यसुन्दरम् ।

यदेव रोचते यस्यै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

देखो—कौड़े वस्तु स्वभावसे अच्छी और बुरी होती है, जो जिमको देखे वह वही उसको सुन्दर लगती है ॥ ५३ ॥

यतः,—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।

अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५४ ॥

क्योंकि—बुद्धिमान्को चाहिये कि जिम मनुष्यका काम मनोरम है उसी अनिप्रायको निश्चय करके उस पुरुषके पेटमें तुम नर उभे अपने काम कर ले ॥ ५४ ॥

न्यञ्च,—

कोऽत्रेत्यहमिति त्रयात्सम्यगादेशयेति च ।

आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

- और दूसरे—यहा कौन है ? मैं हूँ, कृपा कर आज्ञा कीजिये, ऐसा कहना  
- हिये और जहा तक हो सके राजाकी आज्ञाको सफल करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

पर च,—

अल्पेच्छुर्धृतिमान् प्राप्तश्छायेवानुगतः सदा ।

आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

और थोड़ा चाहने वाला, वैर्यवान्, पण्डित तथा सदा छायाके समान पीछे  
रहने वाला और जो आज्ञा पाने पर कुछ विचार न करे, अर्थात् यथार्थरूपसे  
आज्ञाका पालन करे ऐसा मनुष्य राजाके घरमें रहना चाहिये ॥ ५६ ॥

करटकौ व्रते—‘कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते स्वामी’ ।

आह—‘अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसानिध्यमवश्यं  
रणीयम् ।

करटक बोला—‘जो स्वामी कुसमय पर घुस जानेसे स्वामी तुमारा अनादर  
करे’ ॥ वह बोला—‘ऐना होय तो नी सेवकको स्वामीके पास अवश्य जाना  
चाहिये ।

तः,—

दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।

कैरजीर्णभयान्द्रातर्भोजनं परिहीयते ? ॥ ५७ ॥

क्योंकि—दोषके डरसे किसी कामका आरंभ न करना यह कायर पुरुषका  
लक्षण है, हे भाई ! जर्जरके डरसे कौन भोजनको छोड़ते हैं ? ॥ ५७ ॥

इत्य,—

वासन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं

विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा ।

प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च

यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ॥ ५८ ॥

देशो—पास रहने वाला वैसाही विद्याहीन, मलिन, तथा कुलहीन मनुष्य क्यों  
न हो राजा उसीसे हित करने लगता है, क्योंकि राजा, स्त्री और बेल ये बहुधा  
जो पाम रहता है, उसीका आश्रय कर लेते हैं ॥ ५८ ॥

करटकौ व्रते—‘अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान्?’ स आह—

‘वृणु । किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति शस्यामि’ ।

करटकौ व्रते—‘किं तज्ज्ञानलक्षणम्?’

करटक बोला—‘बड़ा जा कर क्या कहोगे?’ वह बोला—‘सुनो । पहिले यह  
जानूंगा कि स्वामी मेरे ऊपर प्रसन्न है अथवा उदास है’ करटक बोला—‘इस  
बातको जाननेका क्या चिन्ह है?’

दमनको व्रते—‘शृणु,—

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्लेषवादरो भृशम् ।

परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

दमनक बोला—‘सुनो,—दूरसे बड़ी अभिलाषासे देख लेना, मुसकाना, म-  
चार आदि पूछनेमें अधिक आदर करना, पीठ पीछेभी गुणोंकी बड़ाई का  
प्रिय वस्तुओंमें स्मरण रखना ॥ ५९ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।

अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६० ॥

जो सेवक न हो उसमेंभी जेह दिखाना, सुन्दर सुन्दर वचनोंके साथ  
आदि का देना और दोषमेंभी गुणोंका ग्रहण करना ये जेहयुक्तके लक्षण ह ॥  
अन्यत्र,—

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम् ।

विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६१ ॥

और दूसरे—आज कल कह करके, कृपा आदिके करनेमें समय टालना  
आशाओंका बढ़ाना और जब फलका समय आवे तब उसका टउन करना  
उदास स्वामीके लक्षण मनुष्यको जानने चाहिये ॥ ६१ ॥

एतज्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति तथा करिष्यामि

यद्द जान कर जैसे यह मेरे वशमें हो जायगा तैसे करूंगा,

यतः,—

अपायसंदर्शनजां विपत्ति-

मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।

मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां

पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

क्योंकि—पण्डित लोग नीतिशास्त्रमें कही हुई बुराईके होनेसे उत्पन्न  
विपत्तियों, और उपायसे उत्पन्न हुई सिद्धियों नेत्रोंके सामने साक्षात् प्रकट  
हुईसी देखते हैं ॥ ६२ ॥

करटको व्रते—‘तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न चक्रुर्महसि ।

करटक व्रत—‘तो भी बिना अपसरके नहीं कह सकते हो,

यतः,—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।

प्राप्तुयाद्बुद्धवज्रानमपमानं च शाश्वतम् ॥ ६३ ॥

क्योंकि—बिना अपसरके बातको कहते हुए उद्भवतिमानों का उदाहरण  
और अनादरको संवेदा पा सकते हैं ॥ ६३ ॥

दमनको व्रते—‘मित्र ! मा भेषी । नाहमप्राप्तावसरं चक्रु-  
वदिष्यामि ।

दमनक बोला—‘मित्र ! उद्योग मत, न बिना अपसरके मा ( न तु दृष्ट्वा,



१३,—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।

अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६४ ॥

क्योंकि—आपत्तिमें, कुमार्ग पर चलनेमें और कार्यका समय टले जानेमें,  
चाहने वाले सेवकको बिना पूछेभी कहना चाहिये ॥ ६४ ॥

दे च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव  
गानुपपन्नम् ।

और जो अवसर पा कर भी मैं परामर्श(राय) नहीं कहूंगा तो मुझे मन्त्रीप-  
भी अयोग्य है ।

१४,—

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।

स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्य. संवर्धनीयश्च ॥ ६५ ॥

क्योंकि—मनुष्य जिस गुणसे आजीविका पाता है और जिस गुणके कारण  
दुनियामें सज्जन उसकी बड़ाई करते हैं, गुणीको ऐसे गुणकी रक्षा करना  
र बड़े यत्नसे बढ़ाना चाहिये ॥ ६५ ॥

द्रुद्र ! अनुजानीहि माम् । गच्छामि । करटको वृत्ते—‘शुभ-  
स्तु । शिवास्ते पन्थानः । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्’ इति । ततो  
मनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गत. ।

इसलिये हे शुभचिन्तक ! मुझे जाना दीजिये । मैं जाता हू ।’ करटकने  
हा—‘कल्याण होय । और तुम्हारे मार्ग विघ्नरहित अर्थात् शुभ होय । अपना  
नोरथ पूरा करो !’ तब दमनक घमराया-सा पिगलकके पास गया ॥

अथ दूरादेव सादर राज्ञा प्रवेशित. साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणि-  
त्योपविष्ट. । राजाह—‘चिराद्दृष्टोऽसि’ । दमनको वृत्ते—‘यद्यपि  
त्या सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि  
गतकालमनुजीविना सानिध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽसि ।

तब दूरसेही बड़े आदरसे राजाने भीतर आने दिया और वह साष्टांग दल्वत  
धरके बैठ गया । राजा बोला—‘बहुत दिनमें दीखे ।’ दमनक बोला—‘यद्यपि मुझ  
उपकने श्रीमहाराजको कुछ प्रयोजन नहीं है तोभी समय आने पर सेवकको  
अवश्य पास आना चाहिये, इसलिये आया हू,

कि च,—

दन्तस्य निर्वर्षणकेन राजन् ।

कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।

तृणेन कार्यं भवतीश्वराणा

किमङ्गवाक्पाणिमता नरेण ॥ ६६ ॥

और—हे राजा ! दातके कुरेदनेके लिये तथा कान खुजानेके लिये राजाओंमें

तुनकेसेभी काम पड़ता है फिर देह, वाणी तथा हाथ वाले मनुष्यसे क्यों अर्थात् अवश्य पडताही है ॥ ६६ ॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शङ्कयते, त न शङ्कनीयम् ।

यद्यपि बहुत कालसे मुझ अनादर किये गयेकी बुद्धिके नाशकी शङ्का शंका करते हो सोभी शंका न करनी चाहिये,

यतः,—

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-

बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।

अधःकृतस्यापि तनूनपातो

नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ ६७ ॥

क्योंकि—अनादरभी किये गये धैर्यवानकी बुद्धिके नाशकी शंका नहीं चाहिये, जैसे नीचेकी ओर की गईभी अग्निकी ज्वाला कभीभी नीचे नहीं है, अर्थात् हमेशा ऊचीही रहती है ॥ ६७ ॥

देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम् ।

हे महाराज ! इस लिये सदा स्वामीको विवेकी होना चाहिये, यतः,—

मणिलुंठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते ।

यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः ॥ ६८ ॥

क्योंकि—मणि चरणोंमें ठुकराता है और काच शिरपर धारण किया जाता है तो जैसा है वैसा भलेही रहे. काच काचही है और मणि मणिही है ॥ ६८ ॥

अन्यच्च,—

निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते ।

तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

और दूसरे—जब राजा सब (लायक और नालायक)के विषयमें समान करता है तब बड़े बड़े कार्यके करने वालोंका उत्साह नष्ट हो जाता है ॥ ६९ ॥

किं च,—

त्रिविधाः पुरुषा राजशुक्तमावममव्यमाः ।

नियोजयेत्तथैवास्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

और हे राजा ! उत्तम, मध्यम और अवम तीन प्रकारके मनुष्य, प्रथम इन तीन प्रकारके पुरुषोंको तीन प्रकारके ही कामों नियुक्त कर चाहिये ॥ ७० ॥

यतः,—

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।

न हि चूडामणि पादे नूपुर शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

क्योंकि सेवक और आभरण तद्वाके यथा स्थान एव तस्य भवितुं सुदृढ परमं और पात्रेन शिर पर नहा पड़ेसं नता दे ॥ ७१ ॥

पे च,—

कनकभूषणसंग्रहणोचितो  
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।  
न च विरौति न चापि स शोभते  
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥

और भी-सुवर्णके आभूषणमें जड़नेके योग्य मणि, जो सीसा आदि धातुके भूषणमें जड़ दिया जाय तो, वह मणि न तो झनकारता है और न शोभाही है किन्तु जड़ियेकी बुराई होती है ॥ ७२ ॥

न्यच्च,—

मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।  
न हि दोषो मणेरस्ति किंतु साधोरविज्ञता ॥ ७३ ॥

और दूसरे-जो मुकुटमें काच जड़ दिया जाय, और चरणके आभूषणमें जड़ दिया जाय तो कुछ मणिकी निन्दा नहीं है पर जड़ियेकी मूर्खता ली जाती है ॥ ७३ ॥

श्य,—

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।  
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ७४ ॥

देखो-यह बुद्धिवान है, यह राजभक्त है, यह शूर है, इससे भय है, इस प्रकार वकोंके विचारको जानने वाला राजा सेवकोंसे भरा पूरा रहता है ॥ ७४ ॥

था हि,—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।  
पुरुषविशेषं प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७५ ॥

और नी कहा है-घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, मनुष्य और स्त्री ये गुणी अथवा गुणहीनके पास पहुंचते ही योग्य और अयोग्य हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

नन्यच्च,—

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ? ।

भक्तं शक्तं च मा राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७६ ॥

और दूसरे-असमर्थ भक्तसे अथवा अपकारी समर्थसे क्या प्रयोजन निकलता है ? नो हे राजा ! मेरे समान भक्त और काम करनेमें समर्थका अपमान आपको नहीं करना चाहिये ॥ ७६ ॥

पत.,—

अवधानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-

स्ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।

बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती

विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

क्योंकि राजाके अपमान करनेसे आपसके (परिवारी) लोग उद्विहीन हो हैं, पीछे उसके प्रमाणसे ( अर्थात् मेराभी यह अपमान करेगा यह सोचः पण्डितजन उसके पास नहीं आते हैं । पण्डितोंसे छोड़े हुए राज्यमें नीति रहित नहीं होती है, और नीतिके विगड़नेसे सब ससार बेवश होकर जाता है ॥ ७७ ॥

अपरं च,—

जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।

नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७८ ॥

और दूसरे—राजासे सन्मान किये हुए मनुष्यकी प्रजा सर्वदा आदर है और राजासे अपमान किये गये (पुरुष) का सब अपमान करते हैं ॥

किं च,—

वालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।

रवेरविपये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम्' ॥ ७९ ॥

और पण्डितोंको बालकसेभी योग्य बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे नहीं निकलने पर क्या दीपकका उजाला नहीं होता है? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र दमनक! किमेतत्? त्वमस्मदीयप्रमाणं माल्यपुत्र इयन्त कालं यावत्कुतोऽपि खलवान्यान्नागतोऽसि इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि ।' दमनको ब्रूते—'देव! पृच्छामि किञ्चित् उच्यताम् । उद्कार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मितः तिष्ठति?' पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्रमुक्त त्वया । कित्वेतद्ब्रह्मस्य काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति । तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि शृणु । संप्रति वनमिदमपूर्वेसत्त्वाविष्टितमतोऽस्माकं त्याज्यं अनेन हेतुना विस्मितोऽसि । तथा च श्रुतो मयापि महान् शब्दः । शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम् । दमनको ब्रूते—'देव! अस्ति तावदयं महान्नयदेतु स शब्दोऽस्मिन्नभिरप्याकर्णितः । किन्तु स किमन्वी यः प्रथमं भूमित्याग पश्चात् चोपदिशति । अस्मिन्कार्यसंदेहे भृत्यानामुपयोग एव शातम्

गण मैं घबराया हुआ-सा हूँ और मैंने बड़ा भारी एक अपूर्व शब्दभी सुना है ।  
 और शब्दके अनुसार इस प्राणीका बड़ा बल होगा ।' दमनक बोला—'महाराज !  
 वह तो बड़े भयका कारण है । वह शब्द तो मैंनेभी सुना है परन्तु वह बुरा  
 शब्द है कि जो पहिले धरती छोड़नेका और पीछे लड़नेका उपदेश देता है । इस  
 कामके सदेहमेंही सेवकोंके कार्य करनेकी चतुरता जाननी चाहिये ॥

तः,—

बंधुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।

आपन्निकपपापाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ८० ॥

क्योंकि—वाचक, स्त्री, सेवक, अपनी बुद्धि और अपना बल इनकी उत्कर्मताको  
 मुख्य आपत्तिरूपी कसौटी पर जान लेता है ॥ ८० ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र ! महती शङ्का मां वाधते ।' दमनकः पुनराह  
 वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां  
 संभाषसे ?' प्रकाशं ब्रूते—'देव ! यावदहं जीवामि तावद्भयं न  
 वर्तव्यम् । किंतु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकार-  
 णाले दुर्लभः पुरुषसमवायः ।'

सिंह बोला—'हे शुभचिंतक ! मुझे बड़ी शंका दुख दे रही है ।' फिर दमनक  
 अपने जीमें कहने लगा—'जो यह न होता तो राज्यका सुख छोड़ कर दूसरे  
 स्थानमें जानेके लिये मुझसे क्यों कहते हो ?' प्रकट बोला—'महाराज ! जब तक मैं  
 जीता हूँ तब तक भय नहीं करना चाहिये, परन्तु करटक आदिकोभी भरोसा दे  
 नहीं जिये, क्योंकि विपत्तिके प्रतिहार (उपाय)के समय पुरुषोंका इकट्ठा होना  
 दुर्लभ है ।'

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रती-  
 कारप्रतिशयचलितौ । करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे !  
 किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा  
 भयोपशमं प्रतिशय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः ? यतोऽनुप-  
 कुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृहीयाद्विशेषतो राज्ञः ।

तब राजाने तन, मन, और वनसे उन दोनोंका सत्कार किया और वे दोनों  
 दमनक, करटक नयके उपायकी प्रतिज्ञा करके चले । चलते चलते करटकने  
 दमनकसे कहा—'मित्र ! नयके कारणका उपाय होनेके योग्य है अथवा उपाय  
 न होनेके योग्य है यह बिनाही जाने नयके दूर करनेकी प्रतिज्ञा करके कैसे यह  
 महाप्रसाद (वस्त्र, आभूषण इत्यादि) लेलिया ? क्योंकि अनुपकारी ( बिना  
 उपाय किये किसी)की भी नेट नहीं लेनी चाहिये और विशेष करके राजाकी ।'

पश्य,—

यस्य प्रसादे पद्मास्ते विजयश्च पराक्रमे ।

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वनेजोमयो हि सः ॥ ८१ ॥

देखो—जिसकी प्रसन्नतामें लक्ष्मी रहती है, पराक्रममें जय रहता है, और  
 क्रोधमें मृत्यु रहती है, वह सचमुच तेजस्वी होता है ॥ ८१ ॥

८ हितो०

तथा हि,—

वालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८२ ॥

और वालरुभी राजाका, मनुष्यके घोखेसे अपमान नहीं करना चाहिये क्योंकि यह मनुष्यके रूपसे बड़ी देवता है ॥ ८२ ॥

दमनको विहस्याह—‘मित्र ! तूष्णीमास्यताम् । ज्ञातं मया न कारणम् । वलीवर्दनर्दितं तत् । वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः । पुनः सिंहस्य ।’ करटकको ब्रूते—‘यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रास्तत्रैव किमिति नापनीतः?’ दमनको ब्रूते—‘यदि स्वामित्रास्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्?’

दमनक हस कर बोला—‘मित्र ! तूम चुप बैठे रहो, मैंने भयका कारण नहीं लिया है । वह बैलका नाद था । और बैल तो हमाराभी भोजन है, सिंहका क्या कहना है!’ करटक बोला—‘जो ऐसा ही है तो फिर स्वामी भय बहाही क्यों नहीं दूर कर दिया?’ दमनकने कहा—‘जो स्वामीका भय ऐसे कह देता तो यह सुदर वत्त आभूषणोंका लाभ कैसे होता?’

अपरं च,—

निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।

निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्यादविकर्णवत् ॥ ८३ ॥

और दूसरे—सेवकोंको चाहिये कि स्वामीको कभी निचला न बैठे अर्थात् कुछ न कुछ झगड़ा लगातेही रह, क्योंकि सेवक स्वामीको अपेक्षा करके दविकर्ण निलात्रके ममान मारा जाता है ॥ ८३ ॥

करटकः पृच्छति—‘कथमेतत्?’ दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—‘यह क्या कैसे है?’ दमनक कहने लगा—

॥ कथा ४ ॥

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम मन्त्रिकः विक्रमः सिंहः । तस्य पर्वतमन्दिरमविशयानस्य कैसराय मन्त्रिकः प्रत्यहं छिनत्ति । ततः कैसराय त्वं दृष्ट्वा कुपितो विप्रान्तर्गतं मूषिकमलम्भमानोऽचिन्तयत्—

उत्तर दिशाके मार्गमें अर्बुदशिखर नाम पर्वत पर दुर्दान्त नाम मन्त्रिक पराक्रमी सिंह रहता था । उस पर्वतके मन्दिरमें कैसरके मन्त्रिक प्रत्यहं छिन्न करके लाता था । तब कैसरके मन्त्रिक दृष्ट्वा कुपितो विप्रान्तर्गतं मूषिकमलम्भमानोऽचिन्तयत्—

‘शुद्धशत्रुभेदयन्तु विक्रमाद्यं च लभ्यते ।

तनाइन्तु पुरन्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः’ ॥ ८४ ॥

‘जो छोटा शत्रु होय और पराक्रमसेभी न मिले तो उसके मारनेके लिये  
की वरावरीका घातक आगे कर देना चाहिये’ ॥ ८४ ॥

यालोच्य तेन ग्रामं गत्वा विश्वासं कृत्वा दधिकर्णनामा विडा-  
ये यत्नेनानीय मांसाहार दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापितः । अनन्तरं  
द्रुयान्मूपिकोऽपि विलास निःसरति । तेनासौ सिंहोऽक्षत-  
सरः सुखं स्वपिति । मूपिकशब्दं यदा यदा शृणोति तदा तदा  
साहारदानेन तं विडालं संवर्धयति ।

यह विचार कर उसने गावमें जा और भरोसा दे कर दधिकर्ण नाम विलावको  
तसे ला मासका आहार दे कर अपनी कन्दरामें रख लिया । पीछे उसके भयसे  
हामी विलेसे नहीं निकलने लगा—कि जिससे यह सिंह वालोंके नहीं कटनेके  
रण सुखसे सोने लगा । जब जब चूहेका शब्द सुनता था तब तब मासके  
हारसे उस विलावको तृप्त करता था ॥

अथैकदा स मूपिकः श्रुधापीडितो वहिः संचरन्विडालेन प्राप्तो  
प्रापादितश्च । अनन्तर स सिंहोऽनेककालं यावन्मूपिकं न  
श्यति तत्कृतरावमपि न शृणोति तदा तस्यानुयोगाद्विडाल-  
याप्याहारदाने मन्दादरो बभूव । ततोऽसावाहारविहारविरहा-  
र्वलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव । अतोऽहं ब्रवीमि—“निरपेक्षी न  
वर्तव्यः” इत्यादि’ ॥ ततो दमनककरटकौ संजीवकसमीपं गतौ ।  
त्र करटकस्तद्वत्तले साटोपमुपविष्टः ।

फिर एक दिन भूखके मारे बाहर फिरते हुए उस चूहेको विलावने पकड़  
लेया और मार डाला । पीछे उस सिंहने बहुत काल तक जब चूहेको न देखा  
और उसका किया हुआ शब्दभी न सुना तब उसके उपयोगी न होनेसे विलावके  
भोजन देनेमेंभी कम आदर करने लगा । फिर, वह दधिकर्ण आहारविहारसे  
दुर्बल हो कर दुखी हुआ । इसलिये मैं कहता हूँ—“अपेक्षा रहित नहीं करना  
चाहिये” इत्यादि’ इसके अनन्तर दमनक करटक दोनों सर्जीवकके पास गये ।  
वहा करटक पेडके नीचे बडे अहकारसे बैठ गया ।

दमनकः संजीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—‘अरे वृषभ ! एषोऽहं  
राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः । सेनापतिः करटकः समा-  
ज्ञापयति—“सत्वरमागच्छ । न चेदस्मादरण्यादूरमपसर । अ-  
न्यथा ते विरुद्धं फल भविष्यति ।” न जाने क्रुद्धः स्वामी किं  
विधास्यति ।’ तच्छ्रुत्वा संजीवकश्चायात् ।

दमनक सर्जीवकके पास जा कर बोला—‘अरे बैल ! ये मैं वह हूँ कि जिसको  
राजा पिङ्गलकने वनकी रक्षवालीके लिये नियुक्त किया है और सेनापति करटक  
आज्ञा करता है कि “शीघ्र आ, जो न आवे तो हमारे वनसे दूर चला जा ।

नहीं तो तेरेलिये बुरा फल होगा”, न जाने क्रोधी स्वामी क्या कर बाले सुन कर सजीवकभी साथ आया

आज्ञामङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः ।

पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः ॥ ८५ ॥

राजाकी आज्ञाका भंग, ब्राह्मणोंका अनादर, त्रियोंकी अलग शय्या रख इनको विना शस्त्रका वध ( मरना ) कहते हैं ॥ ८५ ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः संजीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गप्रणमनं करटकं प्रणतवान् ।

फिर, देशकी रीतिको नहीं जानने वाले सजीवकने उरते उरते पास आ करटकको साष्टाङ्ग प्रणाम किया,

तथा चोक्तम्,—

मतिरेव बलाद्गरीयसी

यद्भावे करिणामियं दशा ।

इति घोषयतीव डिण्डिमः

करिणो हस्तिपकाहतः कणन् ॥ ८६ ॥

जैसा कहा है—बलसे, बुद्धि अधिक बड़ी है कि जिस बुद्धिके न हाथियोंकी ऐसी दशा होती है, अर्थात् बली होने पर भी मतिहीन होनेसे प हो जाते हैं, यही बात मानों हाथीपान्से बजाया गया हाथीका गगाड़ा करके कहता है ॥ ८६ ॥

अथ संजीवकः साशङ्कमाह—‘सेनापते ! कि मया कर्तव्यं तदभिधीयताम् ।’ करटकको ब्रूते—‘वृषभ ! अत्र कानने तिष्ठ अस्माद्देवपादारविन्दं प्रणम ।’ संजीवकको ब्रूते—‘तदभयनायच्छ, गच्छामि ।’ करटकको ब्रूते—‘शृणु रे बलीवर्द ! अला शङ्कया ।’

फिर सजीवक शङ्काने बोला—‘हे सेनापति ! मुझे क्या करना चाहिये ।’ करटकने कहा—‘हे भैल ! इस वनमें ठहरो, जोर हमारे महा चरणरुमलोंसे प्रणाम करो’ सजीवक बोला—‘मुझे अभय वनमें चला ।’ बड़े मुठ करटक बोला—‘सुन रे भैल ! ऐसी दुनिया मत कर, यन,—

प्रतिवाचमदत्त केशवः

शपमानाय न चेदिभूभुजे ।

अनुहुंकुदने वनश्रानि

न हि गोमयादनानि केशरी ॥ ८७ ॥



न्यत्र,—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो  
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।  
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रवाधते  
महान्महत्येव करोति विक्रमम् ॥ ८८ ॥

और भी देख-आधी चारों ओरसे झुके हुए, तथा कोमल और छोटे छोटे  
दोंको नहीं उखाड़ती है, पर बड़े बड़े जुगगादी पेड़ोंको जड़से गिरा देती है,  
योंकि बड़ा बड़ेही पर विक्रम करता है' ॥ ८८ ॥

तस्तौ संजीवकं क्रियदूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ ।

फिर वे दोनों सजीवकको जोड़ी दूर पर ठहरा कर पिङ्गलकके पास गये ॥

ततो राज्ञा सादरमवलोक्तिौ प्रणम्योपविष्टौ । राजाह-‘त्वया  
ऽदृष्टः?’ दमनको ब्रूते—‘देव ! दृष्टः । किंतु यहैवज्ञातं तत्तथा ।  
।हानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति । किंतु महावलोऽसौ, ततः सजी-  
व्योपविश्य दृश्यताम् । शब्दमात्रादेव न भेतव्यम् ।

राजाने उन दोनोंको आदरसे देखा और वे दोनों प्रणाम करके बैठ गये ।  
रु राजा बोला—‘तुमने उसे देखा?’ दमनकने कहा—‘हे महाराज ! देखा, परन्तु  
वह महाराजने समझा था वैसाही है । बड़ा है, महाराजके दर्शन करना चाहता  
है । परन्तु वह बड़ा बलवान् है । इसलिये सावधान हो बैठ कर देखिये । केवल  
शब्दसेही नहीं डरना चाहिये ।

इथा चोक्तम्,—

शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।

शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता ॥ ८९ ॥

जैसा कहा है—शब्दका कारण बिना जाने केवल शब्दसेही नहीं डरना चाहिये,  
जैसे शब्दका कारण जान कर कुट्टनीने आदर पाया’ ॥ ८९ ॥

राजाह—‘कथमेतत्?’ दमनकः कथयति—

राजा बोला—‘यह कथा कैसे है?’ दमनक कहने लगा ।—

॥ कथा ५ ॥

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम् । तच्छिखरप्रदेशे  
घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते । एकदा  
घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः ।  
तत्प्राणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता । वानरास्तां घण्टामनुक्षणं  
वादयन्ति । ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः प्रतिक्षणं  
घण्टारवश्च श्रूयते । अनन्तर घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान्वादति  
घण्टा च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः । ततः  
करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टानादः । तर्हि  
मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विशाय राजा विशापितः—‘देव !

यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते तदाहमेनं घण्टाकर्ण साधया ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम् । कुट्टन्या च मण्डलं तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्य वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य च फलासक्ता बभूवुः । कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरम् सर्वजनपूज्याऽभवत् । अतोऽहं ब्रवीमि—“शब्दमात्रान्न भेत इत्यादि ॥” ततः संजीवक आनीय दर्शनं कारितः । पश्चा परमप्रीत्या निवसति ।

श्रीपर्वतके बीचमे एक ब्रह्मपुर नाम नगर था । उसके शिरार पर एक नाम राक्षस रहता था, यह मनुष्योंसे उड़ती हुई खबर सुनी जाती है दिन घटेको ले कर भागते हुये किसी चोरको व्याघ्रने मार डाला, और हाथसे गिरा हुआ घटा बदरोंको मिला । बदर उस घटेको बार बार बजाते नगरवासियोंने देखा कि वह मनुष्य सा लिया गया और प्रतिक्षणमे घटेमे सुनाई देता है । तत्र राव नागरिक लोग “घटाकर्ण क्रोधसे मनुष्योंको खाता घटेमे बजाता है—” यह कह कर नगरसे भाग चले । बाद कराला नाम उ विचार किया कि यह घटेका शब्द बिना अवसरका है, इसलिये क्या घटेको बजाते हैं? इस बातको अपने आप जान कर राजासे कहा—‘जो उ चर्च करे तो मे इस घटाकर्ण राक्षसको वशमे कर लू ।’ फिर राजाने उ दिया, और कुट्टनीने मडल बना कर उसमे गणेश आदि की पूजा का च दिराला कर और आपने बन्दरोंको अच्छे लगने वाले फलोंको ला कर वनमे फल फेला दिया । फिर घटेको टोड़ कर बन्दर फलोंके खानेमे लग गये । कुट्टनी घटेको ले कर नगरमे आई और सब जनोंने उसका आदर किया । इ मे कहता हूँ—“केवल शब्दमेही नहीं उरना चाहिये” इत्यादि । फिर संजीव का कर दर्शन कराया । पीछे वह बशही बनी प्रीतिसे रहने लगा ॥

अथ कदाचित्तस्य सिंहास्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः । गतः । तस्यातिथ्यं कृत्वा समुपवेश्य पिङ्गलकस्तदादाराय हन्तुं चलितः । अत्रान्तरे संजीवको वदति—‘देव ! अद्य मृगाणां नासानि क?’ राजाह—‘दमनकफरट्टको जानते संजीवको बूते—‘जायता किमस्ति नास्ति वा ।’ सिंहा विमृश्या ‘नास्त्येव तन्’ । संजीवको बूते—‘कथमेतान्ममामं तासां दितम्?’ राजाह—‘नादितं व्यथितमवर्धास्ति च । प्रत्यक्षमः ।’ संजीवको बूते—‘कथंश्रीमेदेवगादानामनोचरेणैवं क्रिय राजाह—मनीयागोचरेणैव क्रियते ।’ अथ संजीवको बूते—‘दुचितम् !

इसके अनन्तर पृष्ठ दो उन सिंहास्य नाई चले-उसे जान है इ

का आदर-सत्कार करके और अच्छी भांति बैठा कर पिंगलक उसके भोजनके पशु मारने चला । इतनेमें सजीवक बोला कि—‘महाराज ! आज मारे हुए का मास कहा है ?’ राजाने कहा—‘दमनक करटक जानि ।’ सजीवकने कहा—‘जान लीजिये कि है या नहीं है ?’ सिंहने विचार कर कहा—‘अब वह नहीं सजीवक बोला—‘इतना सारा मास उन दोनोंनै कैसे खा लिया ?’ राजा बोला—‘या, वाटा और फेंक फाक दिया ! निलय यही डौल रहता है।’ तब सजीवकने—‘महाराजके पीठ पीछे इस प्रकार क्यों करते हैं ?’ राजा बोला—‘मेरे पीठ ऐसाही किया करते हैं।’ फिर सजीवकने कहा—‘यह बात उचित नहीं है ।

॥ चोक्तम्,—

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम् ।

कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते ! ॥ ९० ॥

जैसा कहा है—हे राजा ! त्वाभोके विना जताये आपत्तिके उपायको छोड़ र कुछ काम अपने आप नहीं करना चाहिये ॥ ९० ॥

यच्च,—

कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः ।

नृपते ! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९१ ॥

और हे राजा ! मन्त्री कमण्डलुके समान है, क्योंकि थोड़ा स्वर्च करता है र बहुत सग्रह करता है, और मूर्ख समयको अनमोल नहीं समझता है, र्थात् इस थोड़ेसे समयमें क्या होगा ? और दरिद्री कौडीको अनमोल नहीं नता है ॥ ९१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिर्नी यः प्रवर्धयेत् ।

कोशः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ९२ ॥

निश्चय करके वही मन्त्री श्रेष्ठ है जो दमडी दमडी करके कोषको बढ़ावे, क्योंकि कोषयुक्त राजाका कोषही प्राण है, केवल जीवनही प्राण नहीं है, अत एव कोषको प्राणोंसेभी अधिक रक्खे ॥ ९२ ॥

किं चान्यैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।

धनहीनः स्वपदयापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥ ९३ ॥

और धन आदिके विना अन्य अच्छे कुल और आचारसे पुरुष आदर नहीं पाता है, क्यों कि धनहीन ननुष्यको उसकी स्त्री तक छोड़ देती है फिर दूसरोंकी स्या कहें ॥ ९३ ॥

पतञ्च राज्ञः प्रधानं दूषणम्—

और यह राजाका मुख्य दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः ।

मोषणं दूरसंस्थानं कोशव्यसनमुच्यते ॥ ९४ ॥

बहुत स्वर्च करना, धनकी इच्छा न रखना, अन्यायसे धन इकट्ठा करना ।

अन्यायसे किसीका धन छीन लेना, और धनको दूर ले जा कर स्व  
कोषका व्यसन याने दोष कहा गया है ॥ ९४ ॥

यतः,—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।

परिक्षीयत पवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ९५ ॥

क्योंकि धनके लाभको बिना विचारे अपनी इच्छासे शीघ्र व्यय  
कुत्रेके समान धनवान् होने पर भी वह धनी अवश्य दरिद्री हो जात

स्त्वन्धकर्णो ब्रूते—‘शृणु भ्रातः ! चिराश्रितावेतौ दमनक  
संधिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थधिकारे न नियो  
स्त्वन्धकर्ण बोला—‘सुनो भाई ! ये दमनक करटक बहुत दिनोंसे अर्ध  
पड़े हुये हैं और लड़ाई तथा मेल करानेके अधिकारी ह, धनके अर्ध  
ये कभी नहीं लगाने चाहिये

अपरं च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुतं तत्कथ्यते ।

और दूसरे, ऐसे कामके विषयमें जो भेने सुना है सो कहा जाता :

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते ।

ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, और भाईबन्धु इनको अधिकार पर लगाना अध  
क्योंकि ब्राह्मण शीघ्र सिद्ध होने वाले प्रयोजनको राजाके आग्रहको जान  
कठिनतासे नहीं करता है ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।

सर्वस्यं प्रसते बन्धुराक्रम्य शांतिभावतः ॥ ९७ ॥

जो क्षत्रिय भी धनके काम पर रखने में निश्चय करके राज्य छिनानेकी  
तरवार दिगडाने लगता है, और मानव शांतिके कारण धर कर म  
लेता है ॥ ९७ ॥

अपरावेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।

स स्वामिनमवजाय चरेच्च निरपग्रहः ॥ ९८ ॥

पुराना सेवक जरा म करने पर भी निर्णय रहता है और स्वामीको  
करके बिना सेवकोक काम करता है ॥ ९८ ॥

उपकर्ताधिकारस्य स्वापराधं न मन्यते ।

उपकारं व्यतीकृत्य सर्वमेवावतुष्यति ॥ ९९ ॥

उपकर करने वाला अधिकार पर घेठ धर नहीं मानता और न  
जैर उपकरके जाने करके सब दोषोंका श्रांति दे ॥ ९९ ॥

उपांगु क्रीडितोऽन्नाद्य-स्वयं गतायते यतः ।

अत्रशा क्रियते तेन सदा परिचर्याऽपि ॥ १०० ॥

नदी नदी सुन न नदी मानने का य जना है - विषय नदी

आचरण करता है और वह पास रहनेसे निश्चय स्वामीका अनादर करता ॥ १०० ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।

शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ! ॥ १०१ ॥

हे राजा ! भीतरका दुष्ट अर्थात् पीठ पीछे काम विगाड़ और सहनशील अर्थात् सामने हित दिखाने वाला मंत्री निश्चय करके सब अनर्थोंका करने वाला है। इस विषयमें शकुनि और शकटार ये दो दृष्टान्त हैं ॥ १०१ ॥

सदामाल्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।

सिद्धानामयमादेश ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०२ ॥

धनसे बढे हुए सब मंत्री लोग निश्चय करके अतमे असाध्य अर्थात् खतत्र जाते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य चित्तको विकृत करने वाला (दानतको विगाड़ने वाला) यह महात्माओंका वाक्य है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम् ।

उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमाल्यस्य दूषणम् ॥ १०३ ॥

मिले हुए धनका मार लेना, द्रव्यका अदल बदल करना, अनुरोध ( वार २ प्र मागना ), सब कामोंमें आलस, बुद्धिहीन होना और परस्त्रियोंके साथ गमने लगा रहना यह मंत्रीके दूषण है ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहापायो राज्ञां नित्यपरीक्षणम् ।

प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०४ ॥

और राजाके सचय किये हुए धनका नाश, राजाओंकी नित्य परीक्षा, अर्थात् सन्न है या अप्रसन्न है, यह जानना और प्रिय वस्तुका दे देना, और करनेके लिये कामने आत्मस्य करना येभी मंत्रीके दूषण हैं ॥ १०४ ॥

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसार महीपतेः ।

दुष्टत्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अधिकारी लोग अधिक दवानेसे राजाके भीतरे भेदको सर्वत्र ऐसे उगलते करते ह कि जैसे फोड़ा अधिक दवानेसे भीतरकी राद इत्यादि उगल देता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो वाध्या वसुधारा महीपते ! ।

सकृत्क पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्भुतं पयः ॥ १०६ ॥

और हे राजा ! अधिकारीके जोड़े हुए धनकी वार वार परीक्षा करनी चाहिये क्योंकि एकवार निचोड़ा हुआ न्दानका वस्त्र क्या शीघ्र जलमें छोड़ देता है ? अर्थात् कमी नहीं छोड़ता है ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसर ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम् ।' सिंहो ब्रूते—'अस्ति

तावदेवम्, किंत्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्ध  
ब्रूते—'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा ।

यह सब जैसा अवसर हो वैसा जान कर काम करना चाहिये।  
बोला—'यह तो है ही, पर ये सर्वथा मेरी बातको नहीं करने वाले हैं।' स्तब्ध  
बोला—'यह सब प्रकारसे अनुचित है ।

यतः,—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि ।

विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥ १०७ ॥

क्योंकि—राजा आज्ञाभंग करने वाले अपने पुत्रोंकोभी क्षमा न करे, न  
ऐसा न करनेसे जीते हुए राजामें और चित्रमें लिखे हुए राजामें क्या भेद  
अर्थात् ऐसा राजा किसी कामका नहीं होता है ॥ १०७ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विपमस्य मैत्री

नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।

विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौर्यं

राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ १०८ ॥

अहङ्कारी मनुष्यका यश, चंचल चित्त वाले की मित्रता, दुष्ट इन्द्रियों का  
कुल, धनके लोभीका धर्म, द्यूत आदि व्यसनमें आसक्तका विद्याफल, स  
मुग्ध, और विवेकहीन मनी वाले राजाका राज्य, नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥  
अपरं च,—

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपनल्लभात् ।

नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितृवृत्ति ॥ १०९ ॥

और दूसरे—राजको नोरोसे, सेवकोसे, शत्रुओसे अपने प्रिय म  
और अपने लोभमें, पिताके समान प्रजाका रक्षा करनी चाहिये ॥ १०९ ॥

भ्रान्तः । सर्वथाऽस्त्राद्वचनं क्रियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभि  
एव । अयं संजीवकः मस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुक्तताम  
एतद्वचनात्तयानुष्ठिते सन्ति तदारभ्य पिहल्लक्षार्जावृत्तयो  
बन्धुपरित्यागेन मदता मोहेन कालोऽतिवर्तते । ततोऽनु  
मग्याद्वारदाने शोयित्यदर्शनादमन ककरट क्षापयोन्यं चिन्तय  
तदाह दमनक ककरटम्—'मित्र ! किं कर्तव्यम् ? आत्मकृतो  
दोषः । स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवतमप्यनुचितम् ।

गा—‘मित्र ! अब क्या करना चाहिये ? यह अपनाही किया दोष है, आपही करने पर पछताना भी उचित नहीं है ।

गा चोक्तम्—

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा वङ्कात्मानं च दूतिका ।

आदित्सुश्च मणिं साधुः स्वदोषाहुःखिता इमे ॥ ११० ॥

जैसा कहा है—मैं स्वर्णरेखाको छू कर, और कुटनी अपनेको बाध कर तथा

॥ मणि लेनेकी इच्छासे—ये तीनों अपने दोषसे दुखी हुए ॥ ११० ॥

॥ करटकौ ब्रूते—‘कथमेतत् ?’ दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—‘यह क्या कैसे है ?’ दमनक कहनेलाग । —

॥ कथा ६ ॥

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा । तस्य धर्मा-  
कारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कंदर्पकेतुनाम्ना  
रेव्राजकेन साधुद्वितीयकेन नायं हन्तव्य इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले  
तः । राजपुरुषा ऊचुः—‘किमिति नायं वध्यः ?’ स आह—‘श्रु-  
नाम् ।’ “स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा” इत्यादि पठति । त आहुः—‘कथ-  
मेतत् ?’ परिव्राजकः कथयति—‘अहं सिंहलद्वीपे भूपतेर्जामूत-  
तो. पुत्रः कंदर्पकेतुर्नाम । एकदा केलिकाननावस्थितेन मया  
तवणिङ्गुखाच्छ्रुतं यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्प-  
रुतले रत्नावलीकिरणकर्तुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालंकारभूषिता  
क्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद्दृश्यत इति । ततोऽहं  
तवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तरं तत्र गत्वा  
पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव सावलोकिता । ततस्तल्ल्यावण्यगुणारुष्टेन  
यापि तत्पश्चाज्जम्पो दत्तः । तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य  
सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मया  
लोकिता । तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सर्वां प्रस्थाप्य सादर संभा-  
षेत । तत्सख्या च मया पृष्ट्या समाख्यातम्—‘एषा कंदर्प-  
कलिनाम्नो विद्याधरस्वक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रति-  
ष्ठापिता विद्यते । “यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य पश्यति स एव  
पेतुरगोचरोऽपि मा परिणेष्यती”ति मनसः संकल्पः । तदेनां  
गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान् ।’ अथ तत्र वृत्ते गान्धर्ववि-  
वाहे तथा सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि । तत एकदा रहसि  
नयोक्तम्—‘स्वामिन् ! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम् । एषा  
चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्पृष्टव्या । पश्चा-  
दुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा तथा चित्र-  
गतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः । अथ

दुःखार्तोऽहं परित्राजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप  
अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम् ।' प्रदोष  
सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोप. स्ववधूं दृष्ट्वा सह कि  
मन्नयन्तीमपश्यत् । ततस्तां गोपी ताडयित्वा स्तम्भे यथा सु  
ततोऽर्घरात्र एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यास  
तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते ।

काचनपुर नाम नगरमे वीरविक्रम नाम एक राजा था । उसका धर्म  
किन्ही नाईको वधस्थानमे लाया था, उस समय रुद्रपकेतु नाम भोई  
जिसका साथी एक बनिया था उसने 'यह मारनेके योग्य नहीं है' कह  
कर अपने वस्त्रके पहिसे उसे छिपा लिया राजाके सेवक बोले—'यह  
योग्य क्यों नहीं है ?' वह बोला—'सुनिये, "मे स्तर्णरेखाको टूट  
पडता है ।' वे बोले—'यह कथा कैसे है ?' । सन्यासी रुद्र  
सिंहलद्वीपके जीमूतकेतु नाम राजाका पुत्र रुद्रपकेतु नाम हू ।  
एक समय मेने भानन्द भोगनेके उपवनमे बैठे बैठे एक नावके व्यापारी  
यह सुना कि यहा समुद्रके बीचोबीचमे चौदसके दिन एक  
निकलता है, उमके नीचे रत्नोंकी किरणोता बाढ़ती प्रकटे  
हुए रंगविरंगे पलग पर बैठी हुई ओर सत्र आभूषणोंसे भूषित इसी  
समान तीन हो बजाती हुई भोई कन्या दिखाई दिया करती है



ग्वालके घरमें सोते सोते देखा कि सन्ध्याके समय ग्वाला मित्रोंका सत्कार के अपने घर आया और अपनी स्त्रीको एक कुट्टनीके साथ कुछ कानाफूसी करते हुए देख लिया । फिर उस ग्वालिनको मारपीट कर और खभेमें बाध कर रहा पीछे आधी रातको इसी नाईकी बहू कुट्टनी फिर उस घोसिनके पास कर कहने लगी—‘तेरे विरहकी अग्निसे जला हुआ कामदेवके बाणोंसे घायल मरासू-सा हो रहा है ।

या चोक्तम्,—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि ।

यूनां मनांसि विव्याथ दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः ॥ १११ ॥

जैसा कहा है—चन्द्रमासे रातमें अधकार दूर होने पर कामदेवने देख देख युवाओंके चित्तोंको व्याकुल किया ॥ १११ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमा-  
ता । तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि । त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य  
त्वत्परमागमिष्यसि । तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत् ।  
दान्तीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि । ततो यदासौ न किञ्चि-  
पि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः । दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न  
दासि’ इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्त्तिकामादायास्या नासिका छिन्ना ।  
तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः । अथागत्य गोपी  
द्वीमपृच्छत्—‘का वार्ता?’ दूत्योक्तम्—‘पश्य माम् । मुखमेव  
वार्ता कथयति ।’ अनन्तर सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता ।  
यं च दृत्वा तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता । ततः  
रातरेवानेन नापितेन स्वधूः श्रुरभाण्डं याचिता सती श्रुरमेकं  
प्रादात् । ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं  
श्रुर दूरादेव गृहे क्षिप्तवान् ॥ अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे  
नासिकाऽनेन छिन्नैत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती ॥  
सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—‘अरे पाप ! को मां महा-  
सतीं निरूपयितुं समर्थः ? मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला  
एव जानन्ति ।

उसकी वैसी दशा देख कर मनमें घबराई हुई तेरी अनुवर्तिनी ( एवजी )  
करने आई हू । इसलिये मैं यहा अपनेको बाध कर रहती हू । तू वहा जा कर  
उसको सतुष्ट कर—शीघ्र लौट आइयो’ ऐसा कहने पर वह ग्वाला जाग कर  
बहने लगा—जब तुझ पापिनको तेरे यारके पास ले चल् । फिर जब यह बुट न  
बोली तब ग्वाला झुसलाया । घमउसे मेरी बातका उत्तरभी नहीं देती है वह  
बह कर क्रोधसे उमने लुरी निकाल, उसकी नाक काट जाली । वैसा करके ग्वाला  
फिर सो गया, और उसे निद्रा आ गई फिर ग्वालिनने आ कर दूतीसे पूछा—  
‘क्या बात है ?’ दूतीने कहा—‘मुझे देख ले, मुखही बात कह देता है ।’ फिर वह  
९ हितो०

दुःखार्तोऽहं परित्राजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुयात्  
अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम् ।' प्रदोषस्त  
सुहृदां पालनं कृत्वा स्वगोहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह सिं  
मन्त्रयन्तीमपश्यत् । ततस्तां गोपी ताडयित्वा स्तम्भे बद्धा मु  
ततोऽर्धरात्र पतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यासत्  
तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते ।

काचनपुर नाम नगरमे वीरविक्रम नाम एक राजा था । उसका प  
किसी नाईको वधस्थानमें लाया था, उस समय ऋदर्पकेतु नाम कों  
जिसका साथी एक बनिया था उसने 'यह मारनेके योग्य नहीं हे  
कर अपने वत्तके पल्लसे उसे छिपा लिया राजाके सेवक बोले-'य  
योग्य क्यों नहीं है ?' वह बोला-'सुनिये, "मैं स्वर्णरेखाको ठू कर  
पढता है ।' वे बोले-'यह क्या कैसे है ?' । सन्यासी कहने  
सिंहलद्वीपके जीमूतकेतु नाम राजाका पुत्र कन्दर्पकेतु नाम हू  
एक समय मैंने आनन्द भोगनेके उपवनमें बैठे बैठे एक नावके व्यापार  
यह सुना कि यहा समुद्रके बीचोबीचमें चौदसके दिन  
निकलता है, उसके नीचे रत्नोंकी किरणोंका बादली झरका  
हुए रगविरगे पलग पर बैठी हुई और सब आभूषणोंसे भूषित दस  
समान वीनको बजाती हुई कोई कन्या दिखाई दिया करती है कि  
व्यापारीको ला कर और नाव पर चढ कर बहा गया । पीछे बहा जा क  
आधी डूबी हुई ज्योंकी ल्यों मैंने उसे देखा । फिर उसके सुन्दर  
लुभाया गया, मैं भी उसके पीछे झट कूद पडा । इसके अनन्तर  
पहुच कर सुवर्णके भवनमें वैसेही पलग पर बैठी हुई और विद्याधरियों  
गईको मैंने देखी, उसनेभी मुझे दूरसे देख कर और सहेलीको भेज  
"मुझे बुलानेका" सदेसा कहला भेजा । और जब मैंने सखीसे "उसके  
पूछा, तब उसने सब अच्छे प्रकारसे कह सुनाया कि यह ऋदर्पकेलि ना  
ओंके चक्रवर्ती राजाकी रत्नमजरी नाम बेटी यह प्रतिज्ञा कर बैठी है कि  
कनकपुरको अपने नेत्रसे देखेगा वह मेरे पिताका अपरिचितभी मुझे  
यह मनका सन्तप है । इसलिये आप इसके साथ गवर्णविवाह न  
फिर बहा गवर्णविवाह होनेके बाद उसके साथ रमण करता हुआ  
लगा । फिर एक दिन उसने मुझसे एकतमने कहा-'हे स्वामी ! अपनी  
वह सब पदार्थ भोगो । परतु इस चित्रलिखित सुवर्णरेखा नाम  
रुनी मत दूना पीछे कुठ कौतुक होने पर मने स्वर्णरेखासे अपने हा  
और उस चित्रने लिखी हुई(सुवर्णरेखा)ने अपने चरणरत्नमें  
दुकराया कि मैं अपने राज्यमें आ पडा । पीछे मैं दु गये दु री क  
दृष्ट्या पर वृन्ता वृन्ता दस नगरोंमें जा पट्टा हू और बहा दिन ६

ग्वालके घरमें सोते सोते देखा कि सन्ध्याके समय ग्वाला मित्रोंका सत्कार के अपने घर भाया और अपनी त्रीको एक कुट्टनीके साथ कुछ कानाफूसी ते हुए देख लिया । फिर उस ग्वालिनको मारपीट कर और खभेमे बाध कर रहा. पीछे आधी रातको इसी नाईकी बहू कुट्टनी फिर उस घोसिनके पास कर कहने लगी—तेरे विरहकी अग्निसे जला हुआ कामदेवके बाणोंसे घायल मरासू-सा हो रहा है ।

ग चोकम्,—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि ।

यूनां मनांसि विव्याथ दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः ॥ १११ ॥

जैसा कहा है—चन्द्रमासे रातमें अंधकार दूर होने पर कामदेवने देख देख युवाओंके चित्तोंको व्याकुल किया ॥ १११ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमाना । तदहमत्रात्मानं वद्ध्वा तिष्ठामि । त्वं तत्र गत्वा तं संतोष्य त्वरमागमिष्यसि । तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत् । इतीं त्वां पापिष्टां जारान्तिकं नयामि । ततो यदासौ न किञ्चिपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः । दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न दासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्त्तिकां मादायास्याः नासिका छिन्ना । था कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः । अथागत्य गोपी तीमपृच्छत्—'का वार्ता?' दूत्योक्तम्—'पश्य माम् । मुखमेव वार्ता कथयति ।' अनन्तर सा गोपी तथा कृत्वात्मानं वद्ध्वा स्थिता । यं च दृती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता । ततः गतरेवानेन नापितेन स्वधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं गदात् । ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुर दूरादेव गृहे क्षितवान् ॥ अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकाऽनेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती ॥ सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे पाप ! को मां महासतीं निरूपयितुं समर्थः ? मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति ।

उसकी वैसी दशा देख कर मनमें घबराई हुई तेरी अनुवर्तिनी ( एवजी ) करने आई हू । इसलिये मैं यहा अपनेको बाध कर रहती हू । तू वहा जा कर उसको चतुष्ट कर—शीघ्र लौट आइयो' । ऐसा कहने पर वह ग्वाला जाग कर कहने लगा—अब तुज पापिनको तेरे यारके पास ले चले । फिर जब यह कुट न बोली तब ग्वाला झुत्तलाया । पमउसे मेरी बातका उत्तरभी नहीं देती है यह कह कर शोधसे उसने टुरी निचाल, उसकी नाक काट डाली । वैसा करके ग्वाला फिर सो गया, और उसे निद्रा आ गई फिर ग्वालिनने आ कर दृतीसे पूछा—'क्या बात है ?' दृतीने कहा—'नुझे देख ले, नुसही बात कह देता है ।' फिर वह

ग्वालिन वैसेही करके आप अपनेको बाध कर ठहरी रही, और वह दूती कटी हुई नाकको ले कर अपने घरमें घुस कर बैठी रही । फिर प्रातः काल हो इस नाईने अपनी बहूसे पेटी माँगी । उसने एक उत्तरा दे दिया । फिर उसने पेटीको पा कर इसे बड़ा क्रोध आया और इस नाईने उस छुरेको दूरसेही फेंक दिया. पीछे इसने बड़ा हुँरा मचाया कि विना अपराध इसने मेरे काट डाली है, यह कह कर इसे धर्माधिकारीके पास ले आई । और उबर कर उस ग्वालिनसे फिर पूछा और वह बोली—‘अरे पापी ! कौन मुझसी महापतिमनिरूपण कर सकता है ? मेरे पापरहित व्यवहारको आठों लोकपालभी जानते यतः,—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च

द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये

धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ११२ ॥

क्योंकि—सूर्य, चन्द्रमा, पवन, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, दिन, रात, दोनों सध्या और धर्म ये मनुष्यके आचरणको जानते हैं ॥ ११२ ॥ यद्यहं परमसती स्याम्, त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान् स्वप्नेऽपि न हि भजे, तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाऽस्ति नास्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे । कित्तु स्वामी त्वम् । लोकभयादुपेक्षे । पश्य मन्मुखम् । ततो यावदसौ गोपी दी प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नसं मुखमवलोक्य तत्रारण्ये पतितः—‘घन्योऽयं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी’ इति । योऽन्ये मास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि कथयामि । अयं स्वगृहाधिगते द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः । अत्र वेदशास्त्रेषु सुतः । तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठवदितवेतालम् मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते तत्र लुब्धेनानेन साधुना राज्ञः पत्न्याय रत्नं ग्रहीतुं यत्नः कृतः । तदा तेन वेतालेन सूत्रसंचारं तत्राहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टनं गच्छाम्—‘पुत्र ! मलयोपकण्ठादागतोऽसि । तत्सर्वरत्नानि प्रकृच्छाम् । नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि ।’ इत्यमेवायं चेदन्तः । ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि यथायमपहतसर्वस्वोऽस्मात् समागत्य मिलितः । एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुत्रपत्न्याये धर्माधिकारं प्रवर्तितः । अनन्तरं तेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारितेनापितश्च गृहं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा इत्यादि ॥ अयं स्वयंकृतोऽयं दोषः । अत्र विलपनं नोचितम् । ( क्षणं विमृश्य ) मित्र ! यथाऽनयोः सौदाहं मया कारितं तथैव मित्रमेदोऽपि मया कार्यः ।

जो मैं सच्ची पतिव्रता होऊ, तुझे छोड़ दूसरेको न जानती होऊ, दूसरे कृष्णको स्वप्नमें भी न भजती होऊ तो उस धर्मसे मेरी कटी हुई नाकभी बिना टूटी हो जाय. मैं तुझे भस्म कर सकती हू, परन्तु तू पति है, ससारके भयसे डरती हूँ। मेरा मुख देख। 'फिर ज्योंही उस ग्वालने दिया जला कर उसका मुख देखा त्योंही उसका नाकसमेत मुख देख कर उसके चरणोंमें गिर पड़ा—'मुझे अन्य है कि जिसकी ऐसी पतिव्रता थी है ॥ और यह दूसरा जो बनिया है उसका वृत्तान्तभी कहता हू। यह अपने घरसे निकल कर बारह बरसमें मलया-लके पास इस नगरीमें आया, यहां वेश्याके घरमें सोया, उस कुट्टनीके घरके द्वार पर बैठाये गये काठके बने हुए वेतालके सिरमें एक अनमोल रत्न था. वहा उस लोभी बनियेने रातको उठ कर रत्न लेनेका यत्न किया. तब उस पिशाचने उसके चलाई गई भुजाओंसे उसे खींचा और वह रो कर चिल्लाया. पीछे उठ कर कुट्टनीने कहा—'हे पुत्र ! तू मलयके पाससे आया है। इसलिये सब रत्न इसे दे दे. यहाँ तो तू इससे नहीं छुट्टेगा; यह सेवक ऐसाही है'. तब इसने सब रत्न दे दिये. और इस प्रकार यह सर्वस्व खो कर हमारे साथ आ कर मिल गया। यह सब सुन कर राजपुरुषोंने न्याय करनेके लिये धर्माधिकारीको प्रवृत्त कर दिया, फिर इसने उस दूती और ग्वालिनको देसनिकाल दे दिया ॥ और नाईंभी घर गया। इसलिये मैं कहता हू—'खणरेखाको मैंने छू कर' इत्यादि ॥ और यह अपनाही लिकिया दोष है। इसमें विलाप करना उचित नहीं है। (क्षणभर जीमें विचार कर) हे मित्र ! जैसे मैंने इन दोनोंकी मित्रता कराई थी वैसेही मित्रोंमें फूट भी कराऊगा

अथतः,—

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः ।

समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः ॥ ११३ ॥

क्योंकि—अति चतुर मनुष्य झूठी बातोंकोभी सच्ची कर दिखाते हैं, जैसे चित्रके कामको जानने वाले मनुष्य, एकसे स्थान पर पहाड, घर इत्यादि खींच कर नीचा ऊंचा दिखाते हैं ॥ ११३ ॥

अपरं च,—

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।

स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥ ११४ ॥

और दूसरे—जिसकी बुद्धि कार्यके उपस्थित होने परभी नहीं घटती है वह मनुष्य सबदोंसे ऐसे बच जाता है, जैसे एक ग्वालिनने दो यारोंका निस्कारा किया ॥ ११४ ॥

करटक. पृच्छति—'कथमेतत् ?' दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—'यह क्या कैसे है ?' दमनक कहने लगा ।—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद्रोपस्य बध्व्यन्धकी । सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च समं रमते ।

द्वारावती नाम नगरीमं किसी ग्वालेकी बहू छिनाल थी । वह गावके र  
नायक और उसके पुत्रके साथ रमण किया करती थी.

तथा चोक्तम्,—

नाग्निस्त्वप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।

नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ११५ ॥

और वैसा कहा भी है कि—अग्नि इधनसे, समुद्र नदियोंसे, मृत्यु सब त  
योंसे, और स्त्री पुरुषोंसे तृप्त नहीं होती है ॥ ११५ ॥

अन्यच्च,—

न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।

न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विपमाः स्त्रियः ॥ ११६ ॥

और स्त्रियोंका ( धन आदिके ) दानसे, सन्मानसे, ( मिष्ट भाषण आदि ) क  
पनसे, सेवासे, शस्त्रसे और शास्त्रसे “वशमे होना” सब प्रकारसे कठिन है ॥११६॥

यतः,—

गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं

पतिं रतिशं सधनं युवानम् ।

विद्वाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति

नरान्तर शीलगुणादिहीनम् ॥ ११७ ॥

क्योंकि—स्त्रिया सब गुणोंसे युक्त, यशस्वी, सुन्दर, कामशील, धनप  
रजना ऐसे पति हो छोड़ कर शील और गुणसे हीन दूसरे मनुष्यके पास  
जाती हैं ॥ ११७ ॥

अपर च,—

न तादृशां प्रीतिमुपैति नारी

विचित्रशय्यां शयितापि कामम् ।

यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ

प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ ११८ ॥

तोर दूसरे—स्त्री वैसी कि तृण आदि मिठी हुई भूमि पर यारके साथ जा  
ती है वैसा युव विचित्र शय्यापर पतिके साथभी सो कर नहीं पाती है ॥ ११८ ॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति ।  
अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः । तमायान्त दृष्ट्वा तत्पु  
त्रशूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति । अनन्तरं तस्  
मन्तं गोप्यं गोप्यात्मनागतः । तमालोक्य गोप्यांकम्—‘दण्डनायक  
सह दण्डे गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सन्वर गच्छ । तथा तेनापुत्रि  
कोपेन गृह्णामस्य भायां पृथा—‘केन कार्येण दण्डनायकः समा  
गम्यन्वच स्थितः?’ ना वृत्ते—‘अथ केनापि कार्येण पुत्रस्योप  
सृष्टः । स च पलायनानांऽप्रागत्य प्रविष्टो नथा कुशूले नि

रक्षितः । तत्पित्रा चान्विष्यात्र न दृष्टः । अत एवायं दण्ड-  
ायकः क्रुद्ध एव गच्छति । ततः सा तत्पुत्रं कुशूलाद्वहिष्कृत्य  
शितवती ।

फिर वह किसी दिन दंडनायकके पुत्रके साथ रमण कर रही थी इतनेमें  
डनायकभी रमण करनेके लिये वहा आ गया । तब उसको आता हुआ देख कर  
उसके पुत्रको कुठीलेमें घुसा कर दंडनायकके साथ वैसेही क्रीडा करने लगी इसके  
भरात उसका भर्ता ग्वाला पौहारसे आया. उसको देख कर गोपीने कहा—'हे  
डनायक ! तू लकड़ी ले कर क्रोधको दिखाता हुआ शीघ्र जा उसके वैया करने  
। ग्वालाने घरमें आ कर बीसे पूछा—'किस कामसे दंडनायक आ कर यहा बैठा  
।?' वह बोली यह किसी कामके कारणसे पुत्रके ऊपर क्रोधित हुवा था वह  
। ग कर यहा आ घुमा था और मैंने उसको कुठीलेमें घुसा कर बचालिया. और  
। उसके पिताने यहा दृढ कर न देखा इसलिये यह दंडनायक क्रोधित-सा जा  
। है फिर वह उसके पुत्रको कुठीलेसे बाहर निकाल कर दिखाने लगी.

था चोक्तम्,—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।

पद्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ११९ ॥

जैसा कहा है—द्विगुणा आहार दुगुना, बुद्धि चौरगुनी, साहस छ गुणा और  
नका काम आठगुणा कहा है ॥ ११९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—“उत्पन्नेष्वपि कार्येषु” इत्यादि । करटक  
। ब्रूते—अस्त्वेवम् । किंत्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं  
। न दयितुं शक्यः ?

इसलिये मैं कहता हूँ—“कार्यके उत्पन्न होनेमेंभी” इत्यादि । करटक बोला—  
। ऐसाही होय, परन्तु इन दोनोंका आपसमें स्वभावसे बडा हुआ बडा स्नेह कैसे  
। बुझाया जा सकता है ?

दमनको ब्रूते—उपायः क्रियताम् । तथा चोक्तम्,—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।

काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः ॥ १२० ॥

दमनक बोला—उपाय करो । जैसा कहा है कि—जो उपायसे हो सकता है  
। वह पराक्रमसे नहीं हो सकता है जैसे कागलीने सोनेके हारसे काळे सापको  
। मार डाला ॥ १२० ॥

करटकः पृच्छति—“कथमेतत् ?” दमनकः कथयति—

करटक पूछने लगा—“यह कथा कैसे है ?” दमनक कहने लगा ।—

॥ कथा ८ ॥

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदंपती निवसतः । तयोश्चापत्यानि तत्को-  
। टरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः पुनर्गर्भवती वायसी  
। वायसमाह—नाथ ! त्यजतामयं तरुः । अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणा-  
। वयो. संततिः सततं भक्ष्यते ।

किसी वृक्ष पर काग और कागली रहा करते थे उनके बच्चे उसके तौर  
रहने वाला काला साप खाता था । पीछे फिर गर्भवती कागली कागले  
लगी—'हे स्वामी ! इस पेड़को छोडो, इसमें रहने वाला सर्प हमारे बच्चे  
खा जाया करता है,

यतः,—

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।

ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥ १२१ ॥

क्योंकि—दुष्ट स्त्री, धूर्त मित्र, उत्तर देने वाला सेवक, सर्प बाढे  
रहना, मानो साक्षात् मृत्युही है, इसमें संदेह नहीं है ॥ १२१ ॥

वायसो ब्रूते—'प्रिये ! न भेतव्यम् । वारंवारं मयैतस्य सोढः । इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः ।' वायस्याह—'कथमेतेन सार्धं भवान्विग्रहीतुं समर्थः ?' वायसो ब्रूते—'अलमनया शङ्कसा

काग बोला—'प्यारी ! उरना नहीं चाहिये, बार बार मैंने इसका अपराध  
है भय फिर क्षमा नहीं करूंगा ।' कागली बोली—'किस प्रकार ऐसे  
साथ तुम लड़ सकते हो ?' काग बोला—'यह शका मत करो ।

यतः,—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्वुद्धेस्तु कुतो बलम् ।

पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥ १२२ ॥

क्योंकि—जिगमो बुद्धि है उसको बल है और जो निर्वुद्धि है उसको  
दृष्टिमें आने । देग, मदसे उन्मत्त सिंहको शशकने मार डाला ॥ १२२ ॥

वायसी विद्वस्याह—'कथमेतत् ?' वायसः कथयति—

कागली बोली—'यह क्या कैसे है ?' तब काग कहने लगा—

॥ कथा ९ ॥

अस्ति मन्दरनादि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वे  
पशूना वयं कुर्वन्नास्ते । ततः सर्वेः पशुभिर्मिलित्वा स मित्र  
विप्रतः—'मृगेन्द्र ! किमर्थमेकदा वशुपशुघातः क्रियते ? यत्  
प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाद्वाराय प्रत्यहमेकैकं पशु  
दौन्यामः ।' ततः सिद्धेनोक्तम्—'यद्येतदभिमतं भवतां  
भवतु तन् । ततः प्रभृत्येकैकं पशुमुपकृत्पितं मक्षयन्नास्ते ।



हये हुए एक एक पशुको खाया करता था । फिर एक दिन एक बूढ़े शशक (खरगोश-) की बारी आई.

तोऽचिन्तयत्—

‘त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया ।

पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे ? ॥ १२३ ॥

वह सोचने लगा—‘जीनेकी आशासे भयके कारणकी अर्थात् मारने वालेकी अनय की जाती है और जब मरनाही ठहरा, फिर मुझे सिंहकी विनतीसे क्या काम है ? ॥ १२३ ॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि ।’ ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपा-  
मुवाच—‘कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि ?’ शशकोऽब्रवीत्—  
‘देव ! नाहमपराधी । आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्भुतः ।  
स्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुम-  
गतोऽस्मि ।’ सिंहः सकोपमाह—‘सत्वरं गत्वा दुरात्मानं  
‘शयं क्व स दुरात्मा तिष्ठति ।’ ततः शशकस्तं गृहीत्वा  
‘भीरुकूपं दर्शयितुं गतः । तत्रागत्य ‘स्वयमेव पश्यतु स्वामी’  
त्युक्त्वा तस्मिन्कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिविम्बं दर्शितवान् ।  
तोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं  
गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—“बुद्धिर्यस्य” इत्यादि’ ॥ वायस्याह—  
‘श्रुतं मया सर्वम् । संप्रति यथा कर्तव्यं तद्रूहि ।’ वायसोऽ-  
ब्रवीत्—‘अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति ।  
स्नानसमये तद्द्वादशवारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्चवा  
विधृत्यानीयास्मिन्कोटरे धारयिष्यसि ।’ अथ कदाचित्स्नातुं  
जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनक-  
सूत्रानुसरणप्रवृत्ते राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पौ दृष्टौ  
व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—“उपायेन हि यच्छक्यम्”  
इत्यादि ॥’ करटको व्रते—‘यद्येवं तर्हि गच्छ । शिवास्ते सन्तु  
पन्थानः ।’ ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—  
‘देव ! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समा-  
गतोऽस्मि ।

इसलिये धीरे धीरे चलता हूँ पीछे सिंहभी भूखका मारा झुझला कर उससे  
बोला—‘तू किसलिये देर करके आया है ?’ शशक बोला—‘महाराज ! मैं अपराधी नहीं  
हूँ, मार्गमें आते हुए मुझको दूसरे सिंहने बलसे पकड़ लिया था । उसके सामने  
फिर लौट जानेकी सौगन्द खा कर खानीको जतानेके लिये यहा आया हूँ ।  
सिंह कोपयुक्त हो कर बोला—‘शीघ्र चल कर दुष्टको दिखला कि वह दुष्ट कहा बैठा  
है ।’ फिर शशक उसे साथ ले कर एक गहरा कुआ दिखलानेको ले गया । वहा  
पहुच कर “सानी ! आपरी देख लिये” यह कह कर उस कुएके जलमें उसी  
सिंहकी परछाही दिखला दी । फिर वह कोपसे दहाट कर घमटसे उसके ऊपर  
अपनेबो गिरा कर मर गया । इसलिये मैं कहता हूँ—“जिसकी बुद्धि है” इत्यादि ।’



कर पिंगलक भय और आश्चर्यसे मान कर चुप हो गया ॥ दमनक फिर  
त्र-‘महाराज ! सब मंत्रियोंको छोड़ कर एक इसीको जो तुमने सब कामका  
कार्यकारी बना रक्खा है वही दोष है ॥

कि,—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च  
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।  
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य  
तयोर्द्वयोरेकतर जहाति ॥ १२७ ॥

क्योंकि—राजलक्ष्मी राजाके तथा मंत्रीके अधिक उन्नति पाने पर चरणोंमें  
रकर (दोनोंकी) सेवा करती है और फिर स्त्रीके स्वभावसे उन दोनोंके भारको  
तुं सह कर दोनोंमेंसे एकको छोड़ देती है ॥ १२७ ॥

पर च,—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा  
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते ।  
निर्मिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा  
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुहति ॥ १२८ ॥  
और दूसरे—जब राजा राज्य पर एक मंत्रीको (सब कामका) मुखिया कर  
ता है तब उसे अभिमानसे मद हो जाता है और मदान्धताके आलस्यसे  
नापसमे फूट हो जाती है और फिर फूट होनेसे उसके हृदयमें स्वाधीनताका  
अभिलाष होता है, अर्थात् स्वाधीन होना चाहता है, और फिर स्वाधीनताके  
प्राप्तिकी इच्छासे वह मंत्री राजाके प्राण लेने तक की शत्रुता करता है ॥ १२८ ॥

मन्यच्च,—

विपदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।

जमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥ १२९ ॥

और—विपयुक्त अन्नको, हिलते हुए दातके, और दुष्ट मंत्रीको जड़से उखाड़  
डालना सुखही है ॥ १२९ ॥

कि च,—

यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्वसने सति ।

सोऽन्धवज्रगतीपालः सीदेत्संचारकैर्विना ॥ १३० ॥

और जो राजा, लक्ष्मीको मंत्रीके आधीन कर देता है वह राजा उस  
मन्त्राके मरण आदि विपत्तिमें गिरने पर चलाने वालेके बिना, जधके समान दुःख  
पाता है ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वच्छात. प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च  
जानाति ।

और सब कार्योंमें अपनी इच्छापूर्वक करता है, इसलिये इसने स्वामी  
प्रमाण ए अर्थात् रुचे तो कीजिये, और आप यह जानते हैं—

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।

परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ? ॥ १३१ ॥

ससारमें ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो लक्ष्मीको न चाहता हो, परा और सुन्दर स्त्रीको चावसे, कौन नहीं देखता है? अर्थात् सब देखते हैं ॥

सिंहो विमृश्याह—'भद्र ! यद्यप्येवं तथापि संजीवकेन मम महान् ज्ञेहः ।

सिंहने विचार कर कहा—'हे शुभचिंतक ! जो ऐसाभी है तोभी सन साथ मेरा अत्यन्त ज्ञेह है ।

पश्य,—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।

अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ॥ १३२ ॥

देख—सुराइया करता हुआभी जो प्यारा है सो तो प्याराही है, जैसे तसे दोषोंसे दूषित भी शरीर किसको प्यारा नहीं है ॥ १३२ ॥

अन्यच्च,—

अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।

दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वल्लावनादरः ? ॥ १३३ ॥

जोर हमरे—अप्रिय करने वाला भी जो प्यारा है सो तो प्याराही है, सुन्दर मन्दिर तो जलाने वाली भी अभिमाने किसका आदर नहीं होता है? ॥

दमनकः पुनरेवाह—'देव ! स एवातिदोषः ।

दमनक फिरभी कहने लगा—'हे महाराज ! वही अधिक दोष है, यतः,—

यस्मिन्नेवाधिकं चश्रुरारोहयति पार्थिवः ।

सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः ॥ १३४ ॥

मोक्ष—पुत्र, मंत्री तथा साधारण मनुष्य इनमेंसे जिसके ऊपर (आरुह) दृष्टि करना है लक्ष्मी उसी पुरुषकी सेवा करती है ॥ १३४ ॥

अप्यु देव !—

मन्त्राणां भुवि—

॥—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रति मानयेत् ।

नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः' ॥ १३६ ॥

क्योंकि—पुराने सेवकोंको छोड़ कर नये आये हुआंका सत्कार नहीं करना  
इये, क्योंकि इससे बढ कर कोई दोष राज्यमें फूट करने वाला नहीं है' १३६  
सिंहो ब्रूते—'महदाश्चर्यम् । मया यदभयवाचं दत्त्वानीतः संव-  
त्तश्च । तत्कथं मह्यं द्रुह्यति ।'

सिंह बोला—'बढ़ा आश्चर्य है ! मैं जिसे अभय वाचा दे कर लाया और उसको  
या सो मुझसे क्यों वैर करता है ?'

तनको ब्रूते—'देव !

दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।

खेदनाभ्यञ्जनोपायैः पुच्छमिव नामितम् ॥ १३७ ॥

दमनक बोला—'महाराज ! जैसे मली गई और तैल आदि लगानेसे सीधी  
रि गई कुत्तेकी पूँछ सीधी नहीं होती है वैसेही दुर्जन नित्य आदर करनेसेभी  
था नहीं होता है ॥ १३७ ॥

परं च,—

खेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।

मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः स्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ १३८ ॥

और दूसरे—तपाई गई, मली गई, डोरीसे लपेटेई गई और बारह बरसके  
छे खोली गई कुत्तेकी पूँछ टेढीही रहती है ॥ १३८ ॥

अन्यच्च,—

वर्धनं वाथ सन्मानं खलानां प्रीतये कुतः ।

फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ १३९ ॥

( और वन आदि दे कर ) बढाना अथवा सन्मान करना दुष्टोंकी प्रसन्नताके  
लिये कहा हो सकता है ? अर्थात् उपकार करने पर भी वे बुराईही करने । जैसे  
विषके वृक्ष अमृतसे सीचनेसेभी भीटे फल नहीं देते हैं ॥ १३९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—

अपृष्टोऽपि हितं त्रयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।

एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १४० ॥

इस लिये मैं कहता हू कि—जिसके पराजयकी इच्छा न करे उसके बिना  
पृष्टेभी हितकारक वचन कहना चाहिये, क्योंकि यही सज्जनोंका धर्म है और  
इसके विपरीत धर्म है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्,—

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं

सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।

सा धीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते

तन्मित्रं यदृष्टमिदं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥ १४१ ॥

जैना कहा है कि—जो विपत्तिसे बचाता है वही ज्ञेही है, जो निर्मल अर्थात् दोषरहित है वही धर्म है, जो (पतिव्रती) आश्रमों चले वही व्रती है, जिसका सपन आदर करे वही पुद्गिनाह है, जो अहंकारको उत्पन्न न करे वही सपत्ति है, जो वृत्ताके रहित है वही सुखी है, जो निष्कपट है वही मित्र है और जो इन्द्रियोंके बन्धनों नहीं है वही पुण्य है ॥ १४१ ॥

यदि संजीवकव्यसनार्दितो विशापितोऽपि स्वामी न निवर्तते  
तदीदृशि भृत्ये न दोषः ।

और जो संजीवकके जेहमें फँसे हुए स्वामी जताने पर भी न मानें तो मुझे  
सेवक पर दोष नहीं है ॥

तथा च,—

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं

यथेष्टं सच्छब्दः प्रविनरति मत्तो गज इव ।

ततो मानध्नातः स पतति यदा शोकगदने

तदा भले दोषान्निशपति न निजं वेत्यविनयम् ॥ १४२ ॥

राज जो मग्न है कि—भोगमें आसक्त राजा कार्यको और हितकारी वचनको  
मन में नहीं लेता और मग्न हो जाते ही भाति अपनी इच्छानुसार जो आज्ञा  
देता है न करवाता है और फिर पतनका मार्ग जब शोकमग्न जाति भाति  
अन्यको मारा है तब तबके पर दोष पड़ना है और अपने उरे आचरणको  
नहीं मानता है ॥ १४२ ॥

हिन्दू श्लोक. ( व्याख्यान ).—

तथा ह्युक्तम्,—

मन्त्रवीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा ।

मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

औरभी कहा है—इस गुप्त मन्त्ररूपी बीजकी जिस किसी प्रकारसे रक्षा करे और थोडाभी न फूटने दे, क्योंकि वह फूटा हुआ नहीं उगता है, अर्थात् रहस्यको सुरक्षित रखे, क्योंकि वह खोलनेसे सफल (कार्य साधक) नहीं होता है ॥१४५॥

किंच,—

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिवति तद्रसम् ॥ १४६ ॥

और लेना देना और करनेका काम ये क्षीघ्र नहीं किये जायें तो इनका रस समय पी लेता है, अर्थात् समय पर चूक जानेसे काम बिगाड़ जाता है ॥१४६॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन संपादनीयम् ।

इसलिये अवश्य आरंभ किये हुए कामको बडे यत्नसे सिद्ध करना चाहिये।

किंच,—

मन्त्रो यो ध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।

चिर न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १४७ ॥

क्योंकि,—जैसे कवच आदिसे ढके हुए अग वाला भी डरपोक योद्धा पराजयके भयसे युद्धमें बहुत देर तक नहीं ठहर सकता है वैसेही उपाय आदि सब अर्गोंसे गुप्त विचार भी दूसरे शत्रुओंके भेदकी शंकासे बहुत काल तक गुप्त नहीं रहता है, अर्थात् प्रकट हो जाता है, और रहस्यके खुल जाने पर कार्यहानि होती है ॥ १४७ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य संघातव्यस्तदतीवानुचितम् ।

जो इसका दोष देख लेने पर भी दोषको दूर कर फिर मेल करना तो औरभी अनुचित है,

यतः,—

सरुहुष्टं तु यो मित्रं पुनः संघातुमिच्छति ।

स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १४८ ॥

क्योंकि,—जो मनुष्य एक बार दुष्टपना किये हुए मित्रके साथ फिर मेल करना चाहता है वह मृत्युको ऐसे गृह्णाता है जैसे अश्वतरी गर्भको ॥ १४८ ॥

सिंहो ब्रूते—‘ज्ञायतां तावन्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः?’

दमनक आह—‘देव !

सिंह बोला—‘पहिले यह तो समझलो कि वह हमारा क्या कर सकता है?’  
दमनकने कहा—‘महाराज !

अद्भुतान्निभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ।

पश्य तिट्ठिममात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः ॥ १४९ ॥

१ अश्वतरी एक प्रकारकी खरर गयी होती है, उसका बच्चा पेट फाड़ कर निकलता है और वह मर जाती है।

शरीरको और शरीरधारीके कामको बिना जाने कैसे सामर्थ्य ही निर्मा हो सकता है ' देगो, केवल एक टटीरीने समुद्रको व्याकुल कर दिया' । १४९ ।

सिंहः पृच्छति—'कथमेतत्?' दमनकः कथयति—

सिंह पूछने लगा—'वह क्या कैसे हे ?' दमनक कहने लगा ।—

### ॥ कथा १० ॥

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्ठिभदंपती निवसनः । तत्र चासन्नप्रसवा  
टिट्ठिभी भर्तारमाह—'नाथ ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसंधीय-  
नाम् ।' टिट्ठिभोऽवदत्—'भार्ये ! नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम् ।'  
ना नूते—'समुद्रवेण्या व्याप्यते स्थानमेतत् ।' टिट्ठिभोऽवदत्—  
'किमहं निर्वृतः समुद्रेण निग्रहीतव्यः ?' टिट्ठिभी विहस्याह—  
'स्वामिन् ! त्वया समुद्रेण च महदन्तरम् ।



तत्र गत्वा सकलवृत्तान्तं टिट्ठिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—‘देव ! समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।’ ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवन्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायादिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्ठिभाय समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—‘अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा’ इत्यादि’ ॥ राजाह—‘कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ?’ दमनको ब्रूते—‘यदासौ सर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा स्वामी ।’ एवमुक्त्वा संजीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । संजीवकेन सादरमुक्तम्—‘भद्र ! कुशलं ते ?’ दमनको ब्रूते—‘अनुजीविनां कुतः कुशलम् ?

फिर कष्टसे स्वामीके कहनेसे उम टटीरीने वहाँही अडे धरे । यह सब सुन कर समुद्रभी उसकी सामर्थ्य टटोलनेके लिये उसके अडे बहा ले गया तब टटीरी शोकसे खिन्न हो कर पतिसे कहने लगी—‘हे स्वामी ! बड़ा कष्ट आ पडा, वे मेरे अडे मर गये ।’ टटीरा बोला—‘प्यारी ! डर मत ।’ ऐसा कह कर और सब पक्षियोंको साथ ले कर वह पक्षियोंके स्वामी गरुडजीके पास गया । वहाँ जा कर टटीरीने सब समाचार भगवान् गरुडजीके सामने निवेदन कर दिया कि—‘हे महाराज ! समुद्रने मुझ अपने घर बैठे हुएको विना अपराधही सताया है ।’ तब उसकी बात सुन कर गरुडजीने सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण प्रभु भगवान् नारायणको जता दिया । उन्होंने समुद्रको अडे देनेकी आज्ञा दे दी । तब भगवान्की आज्ञामो सिर पर रख कर समुद्रने उन अडोको टटीरेको सोंप दिया । इसलिये भै कहता हू—‘शरीर और शरीरधारीके कामको विना जाने’ इत्यादि ।’ राजा बोला—‘यह कैसे जाना जाय कि वह द्रोह करने लगा है ?’ दमनकने कहा—‘जब वह घमडसे सींगोंकी नोंकको मारनेके लिये सामने करता हुआ निडर-सा आवे तब स्वामी आपही जान जायगे ।’ इस प्रकार कह कर संजीवकके पास गया और वहाँ जा कर बीरे बीरे पास खिसकता खिसकता अपनेको मन मर्दान-सा दिखाया । संजीवकने आदरसे कहा—‘मित्र ! कुशल तो है ?’ दमनकने कहा—‘सेवकोंको कुशल कहाँ ?

यतः,—

संपत्तयः परार्थिनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।

स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषा ये राजसेवकाः ॥ १५२ ॥

योंकि,—जो राजाके सेवक हैं उनकी संपत्तियाँ परावीन, नन सदा दुखी और तो क्या युद्ध इत्यादिनी शकते वे अपने जीनेकाभी भरोसा नहीं रखते हैं ॥ १५२ ॥

अन्यत्र,—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विपयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः ?

स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रिय ?

५ कालस्य भुजान्तरं न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं ?

को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ? ॥ १५३ ॥

और दूसरे—कौनसा मनुष्य धनको पा कर अहकारी नहीं होता है ?

किसको आपत्तियों नहीं घेरती ह ? जिनोंने किसका मन नहीं डिगाया ?

राजाओंका कोन प्यारा है ? कोनसा मनुष्य कालकी भुजाओंके बीचमें नहीं गया ?

किससे जानबूझा सन्मान हुआ है ? और कौनसा पुरुष दुर्जनोंके कपटमें पड़ कर

वज्रघल आता है ? ॥ १५३ ॥

मजीवकेनोक्तम्—‘सखे ! नूहि किमेतत् ?’ दमनक आद्य—

प्रवीणि मन्दभाग्यः ?

समीरकने कश—‘भिर ! क्यो तो यह क्या बात है ?’ दमनकने कदा—

मे नरभाग्यो ह्य क्यु ?

पश्य,—

मन्त्रघपि पयोराशो लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।

न मुञ्चति न चास्ते तथा मुग्धोऽस्ति साप्रति ॥ १५४ ॥

इ तो,—मन्त्रनृपन हुआ तो दुःखी मनुष्य सर्पोंका मसारापा कर न तो ओहसक्य

इ न कइ मर ॥ हे मन्त्री इस समय से मुड़ न कि क्या कर ॥ १५४ ॥

पश्य,—

एतत्र गजविश्वसो न शक्यन्त्यत्र गन्धकः ।

कि करोमि क गच्छामि पतितो दुःखसागरे ॥ १५५ ॥

सुनो, तुमारे ऊपर क्रोधित इस स्वामीने एकात्मं कहा है कि सजीवकको मार कर अपने परिवारको दूगा ।' यह सुनतेही सजीवकको बड़ा विपाद हुआ । फिर दमनक बोला—'विपाद मत करो, अवसरके अनुसार काम करो' सजीवक छिन भर चित्तमे विचार कर कहने लगा—'निश्चय यह ठीक कहता है, अथवा दुर्जनका यह काम है अथवा नहीं है, यह व्यवहारसे निर्णय नहीं हो सकता है।

तः,—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा ।

कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५६ ॥

क्योंकि—स्त्रियों दुर्जनके पास जाती हैं, बहुधा राजा कुपात्रोंका पालन करता है, धन कृपणके पास जाता है और इन्द्र पहाड़ और समुद्रमे वरसता है ॥ १५६ ॥

कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।

प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १५७ ॥

कोड़े २ दुर्जन (अपना) आश्रयकी सुन्दरतासे, सुन्दर स्त्रियोंके नेत्रोंमे अँजे २ मेला काजलके समान, शोभा पाता है ॥ १५७ ॥

तत्र विचिन्त्योक्तम्—'कष्टं किमिदमापतितम् ?'

उसने विचार कर रहा—'यह क्या कष्ट आ पड़ा ?'

तः,—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्ना-

न्न तोपमायाति किमत्र चित्रम् ।

अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो

यः स्लेष्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

क्योंकि—राजा बड़े यत्नसे सेवा करने पर भी प्रसन्न नहीं होता है इसमें या आश्चर्य है, क्योंकि यह एक अनोखीही देवताकी मूर्ति है जो सेवा करने र भी शत्रुता करती है ॥ १५८ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः ।

इस लिये इस बातका कुछ भेद नहीं जाना जाता है ।

इत्य,—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति

शुच स तस्यापगमे प्रसीदति ।

अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै

कथं जनस्तं परितोपयिष्यति ? ॥ १५९ ॥

क्योंकि—जो निश्चय करके किसी कारणसे क्रोध करता है वह उस कारणके नाश हो जाने पर अवश्य प्रसन्न हो जाता है, पर जिसका मन बिनाही कारण वैर करने लगा है उसको मनुष्य कैसे प्रसन्न करेगा ? ॥ १५९ ॥

कि मयापकृतं राक्षः ? अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः ।' दमनको वृत्ते—'एवमेतत् । शृणु ।

क्योंकि—दूरसे ऊँचे हाथ उठाना, प्रीतिसे रसीले नेत्र करना, आधा आसन बठनेके लिये देना, अच्छे प्रकारसे मिलना, प्रिय कथाके पूछनेमें आदर करना, भीतर विपयुक्त अर्थात् कपटयुक्त और बाहरसे मीठी २ बातें करना यह जिसमें हो और अत्यन्त मायासे भरा होना—यह कौनसा अपूर्व नाटकका व्यवहार है जो दुर्जनोंने सीखा है ! ॥ १६४ ॥

तथा हि,—

घोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे

निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।

इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता

मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः' ॥ १६५ ॥

और—दुस्तर समुद्रके पार होनेके लिये नाव, अधकारके आने पर दीपक, चाचुरहित समयमें पत्ता, और नद वाले हाथीका घमड दूर करनेके लिये अकुश—इस प्रकार इस ससारमें ब्रह्माने हरएक विपयके उपायकी चिन्ता नहीं की हो ऐसी बात नहीं है, पर मैं मानता हूँ कि दुर्जनोंके चित्तकी वृत्ति दूर करनेमें सिधाताभी उद्योगरहित (विफल-प्रयत्न) हो गया ॥ १६५ ॥

संजीवकः पुनर्निःश्वस्य—'कष्टं भो ! कथमहं सस्यभक्षकः  
सिंहेन निपातयितव्यः ?

संजीवक फिर सोंम भर कर (बोला)—अरे ! बड़े कष्टकी बात है, कैसे सिंह मुझ घासके चरने वालेको मारेगा ?

यतः,—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम् ।

तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १६६ ॥

क्योंकि—जिन दोनोंका समान वित्त और समानही बल होय उन दोनोंका विरोध हो सकता है, किंतु सबल और निर्बलका तो कदापि नहीं होता है ॥ १६६ ॥

( पुनर्विचिन्त्य ) केनायं राजा ममोपरि विकारितो न जाने ।  
भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम् ।

( फिर सोच कर ) किसने इस राजाको मुझसे क्रोधित करा दिया नहीं जानता हूँ । और, भेद छूटे राजासे सदा डरना चाहिये ।

यतः,—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।

बलयं स्फटिकस्येव को हि संघातुमीश्वरः ? ॥ १६७ ॥

क्योंकि—किसी काममें मन्त्रीके फटे हुये राजाके चित्तको काचकी चूड़ीके समान कौन जोड़नेको समर्थ हो सकता है ? अर्थात् वह सर्वथा अशक्य है ॥

१ पंक्ति प्रथमें 'तयोर्विवादो नैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्' पंक्ता पाठ है, पंक्ता पर 'उनही दोनोंका बाद और भेद हो सकता है, उत्तम और अधमका नहीं' पंक्ता अर्थ समझता

क्योंकि-तेजहीन बलवान्को कौनसा मनुष्य पराजय नहीं कर सकता है ? अर्थात् सब कर सकते हैं। देखो, मनुष्य तेजहीन राखके ढेरमे निडर हो कर पैर देते हे ॥ १७३ ॥

किंतु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेन्न त्वं नाहम्' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः । करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम् ?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः ।' करटको ब्रूते—'कोऽत्र संदेहः ?

परन्तु यह सब बात गुप्त ही करने योग्य है । नहीं तो न तुम और न मैं' यह कह कर दमनक करटकके पास गया ॥ तत्र करटकने कहा—'क्या हुआ ?' दमनकने कहा—'दोनोंके आपसमे फूट फैल गई ।' करटक बोला—'इसमे क्या संदेह है ?

यतः,—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः । ✓

को न दृष्यति विन्नेन कुकृत्ये को न पण्डितः ? ॥ १७४ ॥

दुष्टोंका कौन बन्धु है ? माँगनेसे कौन नहीं क्रोधित होता है ? धन(पाने)से कौनसा मनुष्य घमड नहीं करता है ? और बुरा काम करनेमें कौनसा मनुष्य चतुर नहीं है ? ॥ १७४ ॥

अन्यच्च,—

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमान्नात्मविवृद्धये ।

किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ? ॥ १७५ ॥

और दूसरे-धूर्त मनुष्य अपनी बढतीके लिये धनवान्को दुराचारी कर देते हैं, इसलिये दुष्टोंका संसर्ग अग्निके समान क्या क्या नहीं करता है ? याने वह सब अनर्थोंकी जड़ है' ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव ! समागतोऽसौ पापाशयः । ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास । संजीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोर्युद्धे संजीवकः सिंहेन व्यापादितः ।

तब दमनकने पिङ्गलकके पास जा कर—'हे महाराज ! वह पापी आ पहुँचा है, इसलिये समझल कर बैठ जाइये'—यह कह कर पहिले जताए हुए आकारको करा दिया सजीवकने भी आ कर वैसेही बढली हुई चेष्टा वाले सिंहको देख कर अपने योग्य पराक्रम किया । फिर उन दोनोंकी लड़ाईमे सजीवकको सिंहेने मार डाला ।

अथ संजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विथ्रान्तः सशोक इव तिष्ठति । ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम् ?

अपरं च,—

राज्यलोभादहंकारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १८१ ॥

और दूसरे—राज्यके लोभसे अथवा अहंकारसे स्वामीके पदको चाहने वाले सेवकका, उस पापको नाश करनेमें प्राणोंका त्यागही एक प्रायश्चित्त है, और दूसरा कोई नहीं है ॥ १८१ ॥

अन्यच्च,—

राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षः

स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः ।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी

त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८२ ॥

और अत्यन्त दयालु राजा, सर्वभक्षी अर्थात् अत्यन्त लोभी ब्राह्मण, अवश स्त्री, बुरी प्रकृति वाला सहायक, उत्तर देने वाला नोकर, असावधान अधिकारी, और पराये उपकारको नहीं मानने वाला—ये त्यागनेके योग्य हैं ॥ १८२ ॥

विशेषतश्च,—

सत्यानृता सपरुषा मितवादिनी च

हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।

नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' ॥ १८३ ॥

और विशेष करके—राजाकी नीति, कभी सच्ची, कभी झूठी, कभी कड़ी, कभी नरम, कभी हिंसा करने वाली, कभी दयालु, कभी बन लेने वाली, कभी उदार, कभी सदा व्यय करने वाली, कभी अनेक रत्न और धनको इकट्ठा करने वाली, वेदयाके समान बहुत प्रसारकी है' ॥ १८३ ॥

इति दमनकेन संतोषित. पिङ्गलक. स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः । दमनक. प्रहृष्टमनाः 'विजयतां महाराजः, शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा ययासुखमवस्थितः ।

इस प्रकार जब दमनकने संतोष दिलाया तब पिङ्गलकका जीमें जी आया और सिंहासन पर बैठा । दमनक प्रसन्न चित्त हो कर "जब होय महाराजकी, सब सत्कारका कल्याण होय" यह कह कर आनन्दसे रहने लगा ।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः ।' राजपुत्रा उच्यु.—'भवत्प्रसादाच्छ्रुत. । सुखिनो भूता वयम्' ।

विष्णुशर्मा बोले—'आपने सुहृद्भेद सुन लिया?' राजकुमार बोले—'आपकी कृपासे सुना और हम बहुत सुखी हुए ।'

# हितोपदेशः ।

## ॥ विग्रहः ॥

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—‘आर्य ! राजपुत्रा व्रथम् । तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति ।’ विष्णुशर्मणोक्तम्—  
‘यदेव भवद्भयो रोचते कथयामि । विग्रहः श्रूयतां यस्यायमाद्यः’  
श्लोकः—

फिर कथाके आरम्भके समय राजपुत्रोंने कहा—‘गुरुजी ! हम राजकुमार हैं । इसलिये विग्रह सुननेकी इच्छा है ।’ विष्णुशर्माने कहा—‘जो आपको अच्छा लगे वही कहता हूँ । विग्रह सुनिये कि जिसका पहला वाक्य यह है—

हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।

विश्वासवञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वारिमन्दिरे’ ॥ १ ॥

हंसोंके साथ मोरोंके तुल्य पराक्रमके युद्धमें कौआंने शत्रुके गढ़में रह कर और विश्वास उपजा कर हंसोंको ठगा’ ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—‘कथमेतत् ?’ विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—‘यह कहानी कैसे है ?’ विष्णुशर्मा कहने लगे—

## ॥ कथा १ ॥

अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः । तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति । स च सर्वैर्जलचरपक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः ।

कर्पूरद्वीपमें पद्मकेलि नाम एक सरोवर है, वहाँ हिरण्यगर्भ नाम एक राजहंस रहता था और सब जलचारी पक्षियोंने मिल कर उसे पक्षियोंके राज्य पर राज-तिलक किया था ।

यतः,—

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्ज्ञेता ततः प्रजा ।

अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २ ॥

क्योंकि—जो ससारमें अच्छा प्रजापालक राजा न हो तो प्रजा, समुद्रमें कर्णधार(खेवटिये)से रहित नावके समान डूब जाती है ॥ २ ॥

उपर च,—

प्रजा संरक्षति नृपः सा वर्धयति पार्यिवम् ।

वर्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

और दूसरे—राजा प्रजाकी रक्षा करता है और वह (प्रजा) कर आदि दे कर राजाको बढ़ाती है, बढ़ानेसे रक्षा कल्याणकारी है, और रक्षाके बिना वधनुच होनाभी नहीं होनेके समान है ॥ ३ ॥

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखातीनः परि-  
११ हितो०

और दूसरे—बुद्धिमानकोही उपदेश करना चाहिये, मूर्खको कभी न करे, पक्षी वन्दरोंको उपदेश करनेसे स्थान छोड़ कर चले गये ॥ ५ ॥

राजोवाच—“कथमेतत् ?” दीर्घमुखः कथयति—

राजा बोला—“यह कथा कैसे है ?” दीर्घमुख कहने लगा—

## ॥ कथा २ ॥

अस्ति नर्मदातीरे विशालः शालमलीतरुः । तत्र निर्मितनीडकोडे पक्षिणो निवसन्ति सुखेन । अथैकदा वर्षासु नीलपटलैरावृते अभस्तले धारासारैर्महती वृष्टिर्वभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताकुलान् कम्पमानानवलोक्य कृपया पक्षिभिरुक्तम्—  
‘भो भो वानराः ! शृणुत,—

नर्मदाके तीर पर एक बड़ा सेमरका वृक्ष है । उस पर पक्षी घोंसला बना कर उसके भीतर, सुखसे रहा करते थे । फिर एक दिने बरसातमें नीले नीले बादलों से आकाशमडलके छा जाने पर बड़ी बड़ी बूंदोंसे मूमलधार मेघ बरसने लगा और फिर वृक्षके नीचे बैठे हुए वन्दरोंको ठडके मारे थर थर काँपते हुए देख कर पक्षियोंने दयासे विचार कहा—‘अरे भाइ वन्दरो ! सुनो,—

अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः ।

हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमिति सीदथ ?” ॥ ६ ॥

हमने केवल अपनी चोंचोंसे इकट्ठे किये हुए तिनकोंसे घोंसले बनाये हैं, और तुम तो हाथ, पाँव आदिसे युक्त हो कर फिर ऐसा दुःख क्यों भोगते हो ?” ॥

तच्छ्रुत्वा चानरैर्जातामर्षैरालोचितम्—‘अहो ! निर्वातनीड-गर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति । भवतु तावदृष्टे-रपशमः ।’ अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे तैर्वा नरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नास्तेपामण्डानि चाधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—  
“विद्वानेवोपदेष्टव्यः” इत्यादि ।’ राजोवाच—‘ततस्तैः किं कृतम् ?’ वक्. कथयति—‘ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तम्—‘केनासौ राज-हंसो राजा कृतः ?’ ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—‘युष्मदीयमयूरः केन राजा कृतः ?’ एतच्छ्रुत्वा ते सर्वे मां हन्तुमुद्यताः । ततो मयापि स्वविक्रमो दर्शितः ।

यह सुन वन्दरोने झुंझला कर विचारा—‘अरे ! पवनरहित घोंसलोंके भीतर बैठे हुए सुखी पक्षी हमारी तिन्दा करते हैं, करने दो । जब तक वर्षा बंद हो, बाद जब पानीका बरसना बंद हो गया तब उन वन्दरोंने पेड़ पर चढ़ कर सब घोंसले तोड़ डाले, और उन्होंके अडे नीचे गिरा दिये, इसलिये मैं कहता हूँ—“बुद्धिमान-कोही उपदेश करना चाहिये” इत्यादि ।’ राजा बोला—‘तब उन्होंने क्या किया ?’ बगल कहने लगा—फिर उन पक्षियोंने बोधसे कहा—‘किसने इस राज-



हंसको राजा बनाया है ?' तब मैंने झुंझला कर कहा—'तुम्हारे मोरको किसने राजा बनाया है?' यह सुन कर वे सब मुझे मारनेको तयार हुए । तब मैंनेभी अपना पराक्रम दिखाया ।

यतः,—

‘अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम् ।

पराक्रमः परिभवे वैयाल्यं सुरतेष्विव’ ॥ ७ ॥

क्योंकि—रतिकालको छोड़ कर त्रियोंको लज्जा जैसा अलंकार है वैसा पराजयसे भिन्न समयमें पुरुष को क्षमा आभूषण है, और पराजयके समय रतिकालमें त्रियोंको निर्लज्जताके समान, पराक्रमही प्रशंसाके योग्य है’ ॥ ७ ॥

राजा विहस्याह—

‘आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलावलम् ।

अन्तर नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ ८ ॥

राजा हंस कर बोला—‘जो अपनी और शत्रुओंकी निर्बलता और सबलता विचार कर, अंतर नहीं जानता है उसका शत्रु तिरस्कार (पराजय) करते हैं, अर्थात् अपना और शत्रूका बलावल जानना विद्वान्को अत्यावश्यक है ॥ ८ ॥

अन्यथा,—

सुचिर हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमवुद्धिमान् ।

द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो वाग्दोषाद्गर्दभो हतः’ ॥ ९ ॥

और दूसरे—‘जैसे अनाजके क्षेत्रमें बहुत दिन तक गिया नाज चरता हुआ मृग गया वाघम्वर जोड़े हुए वाणीके दोषसे अर्थात् रंकेसे मारा गया’ ॥ ९ ॥

वक्रः पृच्छति—‘कथमेतत्?’ राजा कथयति—

मगला पञ्चे लगा—‘यद् कथा कैसे है?’ राजा कहने लगा।—

॥ कथा ३ ॥

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य गर्दभोऽतिबाहनाद्बलो मुमूर्षुरिवाभवत् । ततस्तेन रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्यारण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे नियुक्तः । तदा द्रुपच्चर्मवलोच्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वर पलायन्ते । तर्धेकदा केनापि सस्यरक्षकेण वृसरकम्बलकृततनुश्राणेन धु-  
ष्ण्डं सज्जाहत्यानतकायेनकान्ते स्थितम् । तं च दूराद्गृह्य गर्दभः पुष्टाशो यथेष्टसस्यमक्षणजातबलो गर्दभोऽयमिति मन्वाद्यो-  
शब्दं कुर्वाणस्त्वद्भिमुखं घावितः । सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दा-  
विधित्य गर्दभोऽयमिति लील्येव व्यापादितः । ततोऽह-  
प्रवोमि—‘सुचिर हि चरन्नित्यम्’ इत्यादि’ ॥ दीर्घमृगो मृत-  
ततः पद्मिनिरक्तम्—‘अरे पाप दुष्ट वक्र! अस्माकं मृगो-  
चरस्यस्माकं व्यामिनमधिशिपसि? तन्न शून्यव्यमितानीम-  
स्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुनिश्चवा सकोपा ऊचु—‘पदय ९

मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः । तस्य राज्याधिकारो नास्ति । यत एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः स कथं पृथिवीं शास्ति ? राज्यं वा तस्य किम् ? कितु त्वं च कूपमण्डकः । तेन तदाश्रयमुपदिशसि ।

हस्तिनापुरमें एक विलास नाम धोवी रहता था । उसका गधा अधिक बोझ ढीनेसे दुबला मरासू-सा हो गया था । फिर उस धोवीने इसे बाघकी खाल चढा कर वनके पास नजके खेतमें रख दिया । फिर दूरसे उसे देख कर और बाघ समझ, खेत वाले शीघ्र भाग जाते थे । इसके अनन्तर एक दिन कोई खेतका रखवाला दूसर रगका कबल ओढे हुए धनुष बाण चढा कर शरीरमें नौबा कर एकांतमें बैठ गया । उबर मन माना अन्न चरनेसे बलवान्, तथा चढ़याया हुआ गया उसे देख कर और गधा जान कर ढेंचू ढेंचू खरसे रेंकता हुआ उसके सामने दौड़ा । तब खेतवालेने, रेंकनेके शब्दसे इसको गधा निश्चय करके सहजमेंही मार डाला । इसलिये में कहता हूँ—“बहुत काल तक चरता हुआ” इत्यादि ।’ दीर्घमुख घोला—फिर पक्षियोंने कहा—‘अरे पापी दुष्ट बगले ! तू हमारी भूमिमें चुग कर हमारेही खामीकी निन्दा करता है ? इसलिये अब क्षमा करनेके योग्य नहीं है ।’ यह कह कर सब मुझे चोंचोंसे मार कर क्रोधसे बोले—‘अरे मूर्ख ! देख, वह हंस तेरा राजा सत्र प्रकारसे भोला है, उसको राज्यका अधिकार नहीं है । क्योंकि निरा भोला हवेली पर धरे हुए धनकीभी रक्षा नहीं कर सकता है । वह कैसे पृथ्वीका राज्य करता है ? अथवा उसका राज्यही क्या है ? वरन तूभी कुएँका मैडक है । इसलिये उसके आश्रयका उपदेश करता है ।

शृणु,—

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः ।

यदि दैवात्फलं नास्ति च्छाया केन निवार्यते ? ॥ १० ॥

मुन,—फल और छायासे युक्त बड़े वृक्षकी सेवा करनी चाहिये । जो भाग्यसे फल नहीं है तो छायाको कौन भला दूर कर सकता है ? ॥ १० ॥

अन्यच्च,—

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।

पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

और दूसरे—नीचकी सेवा नहीं करनी चाहिये, बड़ोंका आश्रय करना चाहिये, जैसे कलारिनके हाथमें दूधकोभी लोग वारुणी (शराव) समझते हैं ११

अन्यच्च,—

महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।

आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

और गुणहीनमें बड़ेभी गुणका बहना लघुताको प्राप्त होता है, जैसे आधार और आधेयभावसे दर्पणमें हाथीका प्रतिबिंब छोटा दीखता है ॥ १२ ॥

विशेषतश्च,—

व्यपदेशोऽपि सिद्धिः स्यादतिशके नराधिपे ।

शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १३ ॥

और विशेष करके राजाके सबल होने पर उसके छल(मिस)सेभी कार्य सिद्ध हो जाता है । जैसे चन्द्रमाके छल(मिम)से शशक ( खरगोश ) सुखसे रहे' ॥१३॥

मयोक्तम्—'कथमेतत्?' पक्षिणः कथयन्ति—

मैंने कहा—'यह क्या कैसी है?' पक्षी कहने लगे ।—

॥ कथा ४ ॥

कदाचिदपि वर्षासु वृष्टेरभावात्तपार्तो गजयूथो यूथपतिमाह—  
 'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? नास्ति क्षुद्रजन्तूनां  
 निमज्जनस्थानम् । वयं च निमज्जनस्थानाभावान्मृताहं इव ।  
 किं कुर्मः ? क्व यामः ?' ततो हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा नि-  
 र्मलं हृदं दर्शितवान् । ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिता  
 गजपादाहतिभिश्चूर्णिताः क्षुद्रशशकाः ।' अनन्तर शिलीमुखो  
 नाम शशकश्चिन्तयामास—'अनेन गजयूथेन पिपासाकुलितेन  
 प्रत्यहमत्रागन्तव्यम् । अतो विनश्यत्यस्त्कुलम् ।' ततो विजयो  
 नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विपीदत । मयात्र प्रतीकारः  
 कर्तव्यः ।' ततोऽसौ प्रतिशय चलितः । गच्छता च तेनालोषि-  
 तम्—'कथं गजयूथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम् ?

यूथनाथ उवाच—‘कस्त्वम्? कुतः समायातः?’ स ब्रूते—‘शश-  
कोऽहम् । भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः ।’ यूथपतिराह—  
‘कार्यमुच्यताम् ।’

इसलिये मैं पहाड़की चोटी पर बैठ कर झुडके स्वामीसे अच्छे प्रकारसे बोला ।  
ऐसा करने पर झुडका स्वामी बोला—‘तू कौन है? कहाँसे आया है?’ यह  
बोला—‘मैं शशक हूँ । भगवान् चन्द्रमाने आपके पास भेजा है ।’ झुडके स्वामीने  
कहा—‘काम कह ।’

विजयो ब्रूते—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ।

सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः ॥ १५ ॥

विजय बोला—शस्त्रोंके उठाये जाने पर भी दूत कुछकी कुछ नहीं करता है,  
क्योंकि सब कालमें नहीं मारे जानेसे वह निश्चय करके यथार्थका कहने वाला  
होता है ॥ १५ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि । शृणु । यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशका-  
स्त्वया नि.सारितास्तदनुचितं कृतम् । ते शशकाश्चिरमस्माकं  
रक्षिताः । अत एव मे शशाङ्क इति प्रसिद्धिः ।’ एवमुक्त्वति दूते  
यूथपतिर्भयादिद्माह—‘प्रणिधेहि । इदमज्ञानतः कृतम् । पुनर्न  
कर्तव्यम् ।’ दूत उवाच—‘यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्प-  
मानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य प्रसाद्य गच्छ ।’ ततो रात्रौ  
यूथपतिं नीत्वा जले चञ्चलं चन्द्रविम्बं दर्शयित्वा यूथपतिः  
प्रणामं कारितः । उक्तं च तेन—‘देव ! अज्ञानादनेनापराधः  
कृतः, ततः क्षम्यताम् । नैवं वारान्तरं विधास्यते’ इत्युक्त्वा  
प्रस्थापितः । अतोऽहं ब्रवीमि—“व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्”  
इति । ततो मयोक्तम्—‘स एवास्तत्रभू राजहंसो महाप्रतापो-  
ऽतिसमर्थः । त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्?’  
इति । तदाहं तैः पक्षिभिः ‘दुष्ट ! कथमसद्भूमौ चरसि?’ इत्य-  
भिधाय राक्षत्रवर्णस्य समीपं नीतः । ततो राज्ञः पुरो मां  
प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्—‘देव ! अवधीयतामेप दुष्टो वको  
यदस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति ।’ राजाह—‘कोऽयम्?  
कुतः समायातः?’ त ऊचुः—‘हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः  
कूर्पूरद्वीपादागतः?’ अथाहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—‘कस्तत्र मुख्यो  
मन्त्री?’ इति । मयोक्तम्—‘सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम  
चक्रवाकः ।’ गृध्रो ब्रूते—‘युज्यते । स्वदेशजोऽसौ ।

इसलिये मैं उनकी आज्ञासे कहता हूँ । सुनिये, जो ये चन्द्रमाके सरोवरके

१ ‘साधुवा यदि वाऽसाधु पररेप समर्पित ।

दुवन् परार्थं परवान् न दूतो वधमर्हति’ ( सु का ५२-२१ )

भावार्थ यह है कि, दूत पराया (एव दूतके शब्द पर चलने वाला) होनेसे  
मला-भुरा होने पर भी अवध्य है

रखवाले शशकोंको आपने निकाल दिया है यह अनुचित किया । वे शशक हमारे बहुत दिनसे रक्षित हैं इसीलिये मेरा नाम “शशक” प्रसिद्ध है । दूतके ऐसा कहतेही हाथियोंका स्वामी भयसे यह बोला—‘सोच लो, यह बात बिना जाने की है । फिर नहीं करूंगा ।’ दूतने कहा—‘जो ऐसा है तो इस सरोवरमें क्रोधसे कौंपते हुए भगवान् चन्द्रमाजीको प्रणाम कर, और प्रसन्न करके चला जा । फिर रातको झुडके स्वामीको ले जा कर और जलमें हिलते हुए चन्द्रमाके गोलेको दिखा कर झुडके स्वामीसे प्रणाम कराया और उसने कहा—‘हे महाराज ! भूलसे इसने अपराध किया है इसलिये क्षमा कीजिये, फिर ऐसा नहीं करेगा’, यह कह कर बिदा किया । इसलिये मैं कहता हूँ—“छलमेंभी काम सिद्ध होजाता है ।” फिर मैंने कहा—‘वह हमारा स्वामी राजहस तो उन्ना प्रतापी और अत्यन्त समर्थ है । तीनों लोककीभी प्रभुता उसके योग्य है फिर यह राज्य क्या है ? तब वे पक्षी मुझे “हे दुष्ट ! हमारी भूमिमें क्यों घूमता है ?” यह कह कर चित्रवर्ण राजाके पास ले गये । फिर राजाके सामने मुझे बिसला कर उन्होंने प्रणाम करके कहा—‘महाराज ! ध्यान दे कर सुनिये । यह दुष्ट बगला हमारे देशमें घूमता हुआभी आपकी निन्दा करता है ।’ राजा बोला—‘यह क्या दे ? कहाँसे आया है ?’ वे कहने लगे—‘हिरण्यगर्भ नाम राजहसका अनुसर कर्पूरद्वीपसे आया है । फिर गिद्ध मन्त्रीने मुझसे पूछा—‘वहाँ मुख्य मन्त्री कौन है ?’ मैंने कहा—‘मम शास्त्रोत्ते पदा हुआ सर्वेश नाम चकवा है । गिद्ध बोला—‘ठीक है । वह मदेशी है,

यतः,—

सदेशजं जुलाचारं विशुद्धमुपधाशुचिम् ।

मन्त्रसमव्यसनितं व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १६ ॥

यहाँके—सदेशी, कुल की रीतिमें निपुण, धर्मशील अर्थात् उरकोच (रिशभत) भा रक्षे नहीं लेने वाला, विचार करनेमें चतुर, दूत, पान आदि व्यसन तथा व्यभिचारसे रहित ॥ १६ ॥

‘धीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं विपश्चितम् ।

अर्थस्योत्पादकं चैव विद्वान्मन्त्रिणं नृपः’ ॥ १७ ॥

दुष्ट इत्यादि व्यमहारधो जानने वाला, कुलीन, विख्यात पण्डित, वन उद्यान करने काय कर्मधो राजा मन्त्री बनाये ॥ १७ ॥

अनन्तरे शुक्रनोक्तम्—‘देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम् द्वीपान्तर्गता एव । तथापि देवपादानामेवाविपत्यम्’ । ततो राजान्युक्तम्—‘पंचमेव ।

इस अन्तरे मेंके वक्ष—‘महाराज ! कर्पूरद्वीप आदि छोट छोट द्वीप कर्पूरद्वीप नामक द्वीपोंके बीच बसती महाराजकी राज्य है । राजानोंके लिये—‘पंचमेव है,

यतः,—

राजा मत्तः विशुद्धं च प्रजादो वनगर्हितः ।

मन्त्राव्यसनि चान्दन्ति तं पुनर्देव्यतेऽपि यत् ॥ १८ ॥

क्योंकि—राजा, विक्षिप्त, बालक, प्रमादी, धनका भहकारी, ये दुर्लभ वस्तु-  
कीभी इच्छा किया करते हैं, फिर जो मिल सकती है उसका तो कहनाही क्या  
है? ॥ १८ ॥

ततो मयोक्तम्—‘यदि वचनमात्रेणैवाधिपत्यं सिद्ध्यति तदा  
जम्बुद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।’ शुको ब्रूते—  
‘कथमत्र निर्णयः?’ मयोक्तम्—‘संग्राम एव ।’ राज्ञा विहस्यो-  
क्तम्—‘स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु । तदा मयोक्तम्—‘स्वदूतोऽपि  
प्रस्थाप्यताम् ।’ राजोवाच—‘कः प्रयास्यति दौत्येन ? यत एवंभूतो  
दूतः कार्यः ।

फिर मैंने कहा कि, जो केवल कहनेसेभी राज्य सिद्ध हुआ जाता है तो  
जम्बुद्वीपमेंभी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भका राज्य है ।’ तोता बोला—‘इसमें कैसे  
निर्णय हो ?’ मैंने कहा—‘संग्रामही है ।’ राजाने हँस कर कहा—‘अपने स्वामीको  
जा कर तयार कर ।’ तब मैंने कहा—‘अपने दूतकोभी भेजिये ।’ राजाने कहा—  
‘दूत बन कर कौन जायगा ? क्योंकि ऐसा दूत करना चाहिये,—

भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।

ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभानवान् ॥ १९ ॥

भक्त अर्थात् राजाका हितकारी, गुणवान्, शुद्ध अर्थात् उत्कोच ( रिशवत )  
आदि लाभरहित, कार्यमें चतुर, बोल-चालमें निपुण, द्यूत, पान आदि व्यसनसे  
रहित, क्षमाशील, ब्राह्मण, शत्रुके भेदको जानने वाला और बुद्धिमान् होवे ॥१९॥

शुभ्रो वदति—‘सन्त्येव दूता वहवः । किंतु ब्राह्मण एव कर्तव्यः ।

सिद्ध बोला—‘दूत तो बहुतसे हैं परन्तु ब्राह्मणकोही करना चाहिये ।

यतः,—

प्रसादं कुरुते पत्युः संपत्तिं नाभिवाञ्छति ।

कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसंगमात् ॥ २० ॥

क्योंकि—वह स्वामीको प्रसन्न करता है और संपत्तिको नहीं चाहता है, और  
जैसे महादेवजीके सगसे विपकी कालोच नहीं जाती है वैसेही इसकीभी प्रकृति  
नहीं बदलती ॥ २० ॥

राजाह—‘ततः शुक एव ब्रजतु । शुक ! त्वमेवानेन सह गत्वा-  
सदमिलपितं ब्रूहि ।’ शुको ब्रूते—‘यथाज्ञापयति देवः । किंत्वयं  
दुर्जनो यकः । तदनेन सह न गच्छामि ॥

राजा बोला—‘फिर तोताही जाय । हे तोते ! तूही इसके साथ वहाँ जा कर  
हमारा संदेशा भुगता दे ।’ तोता बोला—‘जो आज्ञा श्रीमहाराजकी । पर यह  
बाला दुष्ट है । इसलिये इसके साथ नहीं जाऊगा ।

तथा चोक्तम्,—

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।

दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधः ॥ २१ ॥

जैसा कहा है—दुष्ट जो बुराई करता है वह बुराई सचमुच साधुओं पर फट करती है, अर्थात् उन्हें दुःख भुगतना पड़ता है । जैसे रावणने सीताको झूठे गवा और समुद्र बाँधा गया ॥ २१ ॥

अपर च,—

न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।

काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन्गच्छंश्च वर्तकः ॥ २२ ॥'

और दूसरे—दुष्टके साथ कभी न तो बैठना चाहिये और न जाना चाहिये, जैसे कोंपके साथ रह कर इस और उड़ता हुआ बटेर मारे गये' ॥ २२ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' शुकः कथयति—

राजा बोला—'यह क्या कैसे है ?' तोता कहने लगा ।—

॥ कथा ५ ॥

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरुः । तत्र हंसकाकौ निवसतः । कदाचिद्ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुःकाण्डं सनिधाय सुप्तः । तत्र क्षणान्तरे तन्मुखाद्दृक्षच्छायापगता । ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य तद्दृक्षस्थितेन हंसेन कृपया पक्षो प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता । ततो निर्भरनिद्रासुखिना तेन मुषय्यादानं कृतम् । अथ परसुप्तमसहिष्णुः स्वभावदोर्जन्येन स कक्रस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः । ततो यावत्पक्षो पान्थ उत्यायोर्ध्वं निरीक्षते तावत्तेनावलोकितो हंसः काण्डेन हतो व्यापादितः ॥ वर्तककथामपि कथयामि—

उज्जयिनीके मार्गन एक प्लक्षतरु पेड़ था । उस पर इस और काग रहते थे । एक दिन गरमीके समय यहाँ हुआ छोटे बटोरी उस पेड़के नीचे वनपक्षी बरके गये । उन्हें बोला देखने उसके मुख परसे छाया छाया डल गये । फिर सूर्यके तेजसे उसके मुखसे तनका हुआ देखा हर उस पेड़ पर बंटे हुए । इस प्रकार ततो पक्षी फिर उसके मुख पर छाया कर दीनी । फिर गरमी नदके नन्दगे उसी मुख पाइ दिया । पीछे परसे मुखसे नहीं सहने पक्षी नदके दृष्ट सनापसे उसके मुखसे नीट करके उड़ गया । फिर जो उध्वं उध्वं उध्वं उध्वं देखा मोक्ष उससे हम दीना, उसे जानते मात्र दिना और नद नग गगा ॥ बटेरके कथा भी कथा ५ ।

कथा ॥ ६ ॥

एकदा जगवता गदडह्य यात्राप्रसंगेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गता । तत्र काकेन सद् वर्तकश्चलितः । अथ गोपालस्य गच्छति द्विभ्रमः । अत्राश्विनं तेन काकेन दक्षिणं राधते । ततो यावत्पक्षी इतिहास्य भूमिं निवायोर्ध्वं अवलोकिते तावत्तेन काकस्तर्कितः इति । तन्नेन खेदितः काकः पलायितः । वर्तकः स्वभावान्तर

पराधो मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—“न  
स्थातव्यं न गन्तव्यम्” इत्यादि ॥ ततो मयोक्तम्—‘भ्रातः शुक !  
किमेवं ब्रवीषि ? मां प्रति यथा श्रीमद्देवस्तथा भवानपि ।’  
शुकनोक्तम्—‘अस्त्वेवम् ।

एक समय गरुड़जीकी यात्राके निमित्तसे सब पक्षी समुद्रके तीर पर गये ।  
फिर कौएके साथ एक बटेरभी चला । पीछे जाते हुए अहीरकी दहीकी  
हाँडीमेंसे बार बार कौआ दही खाने लगा । फिर ज्योंही इसने दहीकी हाँडीको  
धरती पर रख कर ऊँचेको देखा लोँही उसको कौआ और बटेर देख पड़े ।  
फिर उससे खदेड़ा हुआ कौआ उड़ गया । और स्वभावसे अपराधहीन हौले हौले  
जाने वाले बटेरको उसने पकड़ लिया और मार डाला । इसलिये मैं कहताहूँ—“न  
बैठना चाहिये और न जाना चाहिये” इत्यादि । फिर मैंने कहा—‘भाई तोते !  
क्यों ऐसे कहते हो ? मेरे जाने जैसे श्रीमहाराज वैसेही तुम हो ।’ तोतेने कहा—  
‘ऐसेही ठीक है ।

किन्तु,—

दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि प्रियाण्यपि ।

अकालकुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि ॥ २३ ॥

परन्तु—दुष्टोंसे कहे हुए वचन चाहे जैसे अच्छे और प्यारे हों, वे कुसु-  
मके पुष्पोंके समान भय उत्पन्न करतेही हैं ॥ २३ ॥

दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे  
भवद्भचनमेव निदानम् ।

और तेरा दुष्टपणा तो तेरी बातसेही जान लिया गया कि इन राजाओंके  
युद्धमें तेरा वचनही मूल कारण है ।

पश्य,—

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।

रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाकरोत् ॥ २४ ॥

देखो—मूर्ख सामने किये हुए दोषको देख कर भी मीठे मीठे वचनोंसे प्रसन्न  
हो जाता है, जैसे एक बद्धने यारसमेत अपनी स्त्री शिरपर धर लिया ॥ २४ ॥

राशोक्तम्—‘कथमेतत् ?’ शुकः कथयति—

राजा बोला—‘यह क्या कैसे है ?’ तोता कहने लगा—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः । स च  
स्वभार्या वन्धकीं जानाति । जारेण समं स्वचक्षुषा नैकस्थानं  
पश्यति । ततोऽसौ रथकारः ‘अहमन्यं ग्रामं गच्छामि’ इत्यु-  
क्त्वा चलितः । कियद्दूर गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्गतले स्वगृहे  
निभृतं स्थितः । अथ रथकारो ग्रामान्तरं गत इत्युपजात-  
विश्वासः स जारः संध्याकाल एवागतः । पश्चात्तेन समं  
तस्मिन्पर्यङ्गे शोडन्ती पर्यङ्गतलस्थितस्य नर्तुः किञ्चिद्गस्पर्शा-



स्वामिनं मायाविनमिति विशाय विपण्णाभवत् । ततो जारेणो-  
कम्—‘किमिति त्वमद्य मया सह निर्भर न रमसे ? विस्मितेव  
प्रतिभासि मे त्वम् ?’ तयोक्तम्—‘अनभिज्ञोऽसि । मम प्राणेश्वरो  
येन ममाकौमार सत्यं सोऽद्य ग्रामान्तर गतः । तेन विना  
सकलजनपूर्णांऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवद्भाति । किं भावि तत्र  
परस्थाने किं खादितवान् कथं वा प्रसुप्त इत्यस्मद्दृश्यं विदीर्यते ।  
जारो ब्रूते—‘तव किमेवं स्नेहभूमी रथकारः ?’ यन्धन्यवदत्—  
‘रे वर्वर ! किं वदसि ?’

यौवनश्रीनगरमे मदमति नाम बढई रहता था, और वह अपनी खोई  
ठिनाल जानता था । पर यारके संग अपनी आँखोंसे एक स्थानमे नहीं देखता  
था । बाद वह बढई “मैं दूसरे गाँवको जाता हूँ” यह कह कर चला गया ।  
योड़ी दूर जा कर और फिर लौट आ कर पलंगके नीचे अपने घरमें दुप रस  
बैठ गया । फिर, जडई दूसरे गाँव छो गया इस विश्वासका मारा वह यार दिन  
दूरतेही आ गया । पीछे उसके साथ उसी पलंग पर क्रीड़ा करती हुई पलंगके  
नीचे बैठे हुए खामी की योड़ी देहके दूजानेसे खामीको छलिया जान कर उदास  
हो गये । तब यारने कहा—‘क्या बात है ? तू आज मेरे साथ जी रोल कर नहीं  
रमण करती है ? तू मुझे कुछ उपत्ति-सी समझ पड़ती है ।’ उसने कहा—‘म  
नहीं जानता है । मेरा प्राणप्यारा कि जिसके साथ मेरी बाल्यावस्थासे प्रीति है  
मेरे जान दूसरे गाँव छो गया है । उसके बिना सब जगत्से भरा हुआ भी बस  
ग । मुझे मन-मा जान पड़ता है । क्या हीनहार है, वहाँ दूसरे स्थानमे बस  
जाय होगा असा ध्ये सोया होगा इस कारण मेरा हिरदा फटा जाता है ।’  
सारने कहा—‘क्या तेरा बड़े मेरा प्रेह करने वाला है ?’ ठिनाल बोली—‘जो  
मेरे साथ रहता है ।’

२५७,—

पदभाष्यपि या प्रोक्ता दृष्टा या क्रोधचश्रुता ।

सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभागिनी ॥ २५ ॥

दुःख-दुःख बाद मेरे निष्ठुर वचन प्राप्त रहे और क्रोधही जायग  
२५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ मानव मुझे प्रसन्न रखे वह श्री वमदी नारी  
२५ ॥ २५ ॥

नपर च,—

और द्वियोंका भूषणोंके विनाही पति परम भूषण है, उससे रहित यह स्त्री  
विपवतीभी कुरूपा है ॥ २७ ॥

त्वं जार. पापमतिः । मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचि-  
त्सेव्यसे कदाचिन्न सेव्यसे च । स च स्वामी मां विक्रेतुं देवेभ्यो  
ब्राह्मणेभ्योऽपि दातुमीश्वरः । किं बहुना, तस्मिञ्जीवति जीवामि  
तन्मरणे चानुमरण करिष्यामीति प्रतिज्ञा वर्तते ।

तू तो पापबुद्धी यार है । चित्तकी चचलतासे पुष्प-ताबूलके समान है,  
कभी सेवा किया जाता है और कभी नहीं किया जाता है । और वह स्वामी  
तनुसे बेचनेके लिये और देवता और ब्राह्मणोंको देनेके लियेभी समर्थ है । अधिक  
क्या कहूँ? उसके जीते मैं जीती हूँ, उसके मरने पर सती हो जाऊँगी यह  
मेरी प्रतिज्ञा है ।

यतः,—

तिष्ठः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।

तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति ॥ २८ ॥

क्योंकि—जो स्त्री पतिकी आज्ञामें चलती है वह, मनुष्य (शरीर)के ऊपर जो  
दोन करोड़ पचास लाख लोम ( रोंगटे ) हैं उतने वर्ष तक स्वर्गमें वसती है ॥

अन्यत्र,—

व्यालग्राही यथा व्यालं वलादुद्धरते विलात् ।

तद्दुद्धर्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते ॥ २९ ॥

और दूनरे—जैसे मदारी (मन्त्रके प्रभावसे) साँपको विलेसे वलसे खींचता है  
वैसेही स्त्री (पतिव्रतका प्रभावसे) पतिको स्वर्गलोकमें ले जा कर सुख भोगती है ॥

अपर च,—

चित्तौ परिप्वज्य विचेतनं पतिं

प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।

कृत्वापि पापं शतसंख्यमप्यसौ

पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

और—जो स्त्री चित्तामें अपने मरे हुए भर्ताको गोदमें ले कर अपने शरीरको  
छेदती ( सती हो जाती ) है वह सौ पाप करकेभी पतिको ले कर स्वर्गलोकमें  
जाती है ॥ ३० ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा स रथकारोऽवदत्—‘धन्योऽहं यस्येदृशी प्रिय-  
यादिनी स्वामिवत्सला भार्या’ इति मनसि निधाय तां खट्वां  
स्त्रीपुस्तसहितां मूर्ध्नि कृत्वा सानन्दं ननर्त । अतोऽहं व्र-  
वीमि—‘प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे’ इत्यादि ॥ ततोऽहं तेन राज्ञा  
यथाव्यवहार सपूज्य प्रस्थापितः । शुकोऽपि मम पथादागच्छ-  
शास्ते । एतत्सर्वं परिश्रय यथाकर्तव्यमनुसंधीयताम् ।’ चक्र-

चाको विहस्याह—'देव ! वकेन तावद्देशान्तरमपि गत्वा यथा शक्ति राजकार्यमनुष्ठितम् । किंतु देव ! स्वभाव एष मूर्खाणाम् ।

यह सब सुन कर वह बड़ई बोला—'मैं धन्य हूँ जिसकी ऐसी मिष्ठभाषिणी स्वामीने प्यार करने वाली स्त्री है । यह मनमे ठान, उन स्त्रीरूपसहित राज्यात्तर पर रख कर वह आनन्दसे नाचने लगा । इसलिये मैं कहता हूँ—'प्रलय हो किये जाने परभी' इत्यादि । फिर उस राजाने वहाँकी रीतिके अनुसार तिलक नर मुझे विदा किया । तोताभी मेरे पीछे पीछे आ रहा है । यह सब बात जान कर जो करना है सो करिये । चक्रवेने हँस कर कहा—'महाराज ! बगले प्रदेश जा कर भी शक्तिके अनुसार राजकार्य किया, परन्तु महाराज ! मूर्खता वही स्वभाव है ।

यतः,—

शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य संमतम् ।

विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥

ज्योति—अपनी सैं हजों हाणि करे परन्तु विवाद न करे यह बुद्धिमानोंका मत है, और विना कारणभी कलह कर बैठे यह मूर्खका लक्षण है ॥ ३१ ॥

राजाह—'किमतीतोपालम्भनेन ? प्रस्तुतमनुसंधीयताम् । चक्रवाको ब्रूते—'देव ! विजने ब्रवीमि ।

राजा जो प्र—'जो हो गया उमके उलहनेसे क्या ( फायदा ) है? अब तो पराह है उसे करो ।' चक्रवा बोला—'महाराज ! ए हातमे कहूँगा ।

यतः,—

यथा हारप्रति ध्वानेनेत्रवक्रविकारतः ।

अप्युदन्ति मनो धीरास्तस्माद्रदसि मन्त्रयेत् ॥ ३२ ॥

ज्योति—रंग, रूप, चया, स्वर, नेत्र और मुखादनके बदलनेसे चतुर मनुष्यको मनमें मय भाव आये है इसलिये ए हातमे गुप्त वार्ता करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

राजा मन्त्री च तत्र स्थितो । अन्येऽन्यत्र गताः । चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अहमेवं जानामि । कस्याप्यसन्नियोगिनः प्रेरणया रक्षतेऽमनुष्ठितम् ।

राजा जो चक्रवाको के पास गया । चक्रवाको ने कहा—'देव ! मैं जानता हूँ कि किसी दूसरेकी प्रेरणासे ही तू यहाँ तक आया है ।

यतः,—

राजाब्रवीत्—'भवतु । कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम् । संप्रति  
यत्कर्तव्यं तन्निरूप्यताम् ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! प्रणिधिस्ताव-  
न्नहीयताम् । ततस्तदनुष्ठानं वलावलं च जानीमः ।

राजा बोला—'जो कुछ हो, इसमें जो कारण है उसका पीछे निश्चय कर  
लिया जायगा, अब जो कुछ करना है उसका निर्णय करो ।' चक्रवा बोला—'हि-  
महाराज ! पहले किसी भेदियेको भेजिये, फिर उसका काम और वलावल जाने ।  
तथा हि,—

भवेत्स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने ।

चारचक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ ३४ ॥

जैसा कहा है—राजाओंका अपने, तथा शत्रुके राज्योंके, अच्छे तथा बुरे  
कर्मोंके देखनेके लिये भेदियाही नेत्र ( गूढ मन्त्र जानने वाला ) होता है और  
जिसके नहीं होता है वह सचमुच अवाही है ॥ ३४ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु । तेनासौ स्वयं  
तत्रावस्थाय द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य निगद्य  
प्रस्थापयति ।

और वह दूसरे विश्वासी पुरुषको साथ ले जाय, जिससे वह आप वहाँ  
अपनेको ठहरा कर दूसरेको वहाँका मन्त्रकार्य गुप्त लगा कर इसको समझा कर  
बिदा करदे ।

तथा चोक्तम्,—

तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।

तपस्त्रिव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवदेत् ॥ ३५ ॥

जैसा कहा है—तीर्थ, आश्रम और देवताके स्थानमें शास्त्रके ज्ञानके छलसे  
तपस्त्रियोंके रूपको धारण किये हुए अपने भेदियोंके द्वारा राजाको शत्रुके  
राज्यका भेद जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

गूढचारश्च यो जले स्थले चरति । ततोऽसावेव वको नियुज्य-  
ताम् । एतादृश एव कश्चिद्भ्रूको द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गृहलोकाश्च  
राजद्वारे तिष्ठन्तु, किंतु देव ! एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् ।

और गुप्त भेदिया वह है जो जलमें और थलमें जाता है, फिर इस बगले-  
कोही नियुक्त कीजिये । ऐसाही कोई दूसरा बगला जाय । और उसके घरके  
लोग राजद्वारमें रहें । परंतु हे महाराज ! यह कार्यभी अत्यन्त गुप्त करना  
चाहिये ।

यतः,—

पद्गणो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया ।

इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३६ ॥

क्योंकि—छ कानमें गुप्त बात जानेसे तथा औरोंसे विदित हुई बात खुल  
जाती है, इसलिये राजाको केवल एकहीसे अर्थात् अकेले मन्त्रीसेही (एकात्मने)  
विचार करना चाहिये ॥ ३६ ॥

पश्य,—

मन्त्रभेदेऽपि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः ।

न शक्यास्ते समाधानमिति नीतिविदा मतम् ॥ ३७ ॥

देखो,—हे राजा ! मन्त्रका भेद उल जाने पर जो बुराईयाँ होती हैं ।  
बुधर नहीं मकती है यह नीति जानने वालोंका मत है ॥ ३७ ॥

राजा विमृश्योवाच—‘प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः ।’ मनी  
वृते—‘तदा संग्रामविजयोऽपि प्राप्तः ।’

राजा विचार कर बोला—‘मुझे भेदिया तो उत्तम मित्र गया ।’ मनी  
‘तो दुद्धने विजयभी मिल गई ।

अत्रान्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—‘देव ! जम्बु  
द्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति ।’ राजा चक्रवाकमालोक्तो ।  
चक्रवाक्योक्तम्—‘तावद्गत्वावासे तिष्ठतु पश्चादानीय वृष्ट्याः ।’  
प्रतीहारस्तमावासस्थान नीत्वा गतः । राजाह—‘विग्रहस्ता तस्य  
नुपस्थितः ।’ चक्रो वृते—‘देव ! प्रागेव विग्रहो न विधिः ।

अपरं च,—

सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।

अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्प. को भवेन्न हि ॥ ४१ ॥

और विग्रह(युद्ध)में गये बिना सभी मनुष्य शूर हैं, क्योंकि शत्रुकी सामर्थ्यको नहीं जानने वाला ऐसा कौन है जो घमडी न होय? ॥ ४१ ॥

किंच,—

न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।

अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत् ॥ ४२ ॥

और पत्थरकी शिला जैसी कि काठके यत्रसे उठाई जाती है ऐसी प्राणियोंसे नहीं उठाई जाती है, इसलिये छोटे उपायसे बड़ा लाभ होना यह बड़े मन्त्रकाही फल है ॥ ४२ ॥

किंतु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवहियताम् ।

परंतु विग्रहको उपस्थित देख कर उपाय कीजिये,

यतः,—

यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।

तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात्फलति रक्षणात् ॥ ४३ ॥

क्योंकि—जैसे ठीक समय पर उद्योग करनेसे ( अर्थात् हल इत्यादि चलाने तथा बीज बोनेसे ) खेती फलती है वैसेही हे राजा ! यह नीतिभी बहुत काल रक्षा करनेसे फलती है ॥ ४३ ॥

अपर च,—

महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः ।

विपत्तौ च महाल्लोके धीरतामनुगच्छति ॥ ४४ ॥

और चसारमे बुद्धिमानोंको आपत्तिमें, दूरसे डर लगता है, पास आने पर अपनी शूरताका गुण दिखाते हैं, और महात्मा पुरुष विपत्तिमें वीरज धरते हैं ॥ ४४ ॥

अन्यच्च,—

प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्ताप. प्रथम. किल ।

अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृत. ॥ ४५ ॥

और दूसरे—फिरीके वचनको न सहना यह सब सिद्धियोंका सचमुच मुख्य विघ्न है, जैसे ठंडा जलभी क्या पहाड़को नहीं उखाड डालता है? अर्थात् पुरुष ठंडे दिलसे दूसरेका वचन सुन लेना चाहिये, फिर योग्य हो तो करे, एव वद जरूर सिद्धि पावेगा ॥ ४५ ॥

विशेषतश्च महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा ।

और विशेष करके वह चित्रवर्ण राजा वध चलवान् है ।

यतः,—

पलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।

तद्युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत् ॥ ४६ ॥

इसलिये-बलवान्के साथ लड़ना यह शूरताका चिह्न नहीं है, त्योंके मनुष्योंको हाथीके साथ लड़ना मृत्युको पहुँचाता है ॥ ४६ ॥

अन्यत्र,—

स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्तरि वर्तते ।

कलिर्यलवता सार्धं कीटपक्षोद्यमो यथा ॥ ४७ ॥

जो जो धनसंरके बिना पाये शत्रुसे भिड़ जाता है वह मूर्ख है, जैसे बलवान् के साथ झल्ल करना चेंडीके पक्ष निकलनेके समान है ॥ ४७ ॥

किंच,—

कौर्म संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।

प्रातःकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्कूरसर्पवत् ॥ ४८ ॥

जो नीति जानने वाला कठोरके मुख सकोड़नेके समान प्रहारकोभी सहे जोर सतप्त मिलने पर कूर सर्पके समान उठ बैठे ॥ ४८ ॥

महत्स्यल्पेऽप्युपायसः सममेव भयेत्क्षमः ।

सामुन्मूलयितु वृक्षांस्तृणानीन नदीरयः ॥ ४९ ॥

उपयुक्त जानने वाला बड़े जोर छोटे शत्रुके नाश करनेमें समान समर्थ होता है, जैसे नदीका पत्र तृण और वृक्षोंको जैसे उखाड़नेको समर्थ होता है ॥ ४९ ॥

अनन्त शूलोऽप्याश्वास तानद्रियता यावद्दुर्गः सज्जीक्रियते ।

इति उपदेशः ।

५१,—

विग्रहः ५३-५६ ] भाषाटीकासमलंकृत ।

विस्तीर्णतातिवैषम्यं रसधान्येध्मसंग्रहः ।

प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसंपदः ॥ ५३ ॥

लवा, चौडा, ऊँचा, नीचा, जल, अन्न और इधन इनका संग्रह, और जाने तथा आनेका मार्ग, ये गढकी सात सामग्रियाँ हैं ॥ ५३ ॥

राजाह—‘दुर्गानुसंधाने को नियुज्यताम्?’

राजा बोला—‘गढ बनानेमें किले नियुक्त करना चाहिये?’

चक्रो व्रूते—

‘यो यत्र कुशलः कार्यं तं तत्र विनियोजयेत् ।  
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ॥ ५४ ॥

चक्रवा बोला—‘जो जिस काममें चतुर हो उसको उसमें नियत कर देना चाहिये, क्योंकि जिसने कामोंकी क्रिया नहीं देखी है ऐसा बुद्धिमान्भी गढबना जाता है ॥ ५४ ॥

तदाह्वयतां सारसः ।’ तथानुष्ठिते सत्यागतं सारसमालोक्य  
राजोवाच—‘भोः सारस ! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसंधेहि ।’ सारसः  
प्रणम्योवाच—‘देव ! दुर्गे तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते

महत्सरः । कित्त्वत्र मध्यवर्तिद्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम् ।

इसलिये सारसको बुलाओ । ऐसा करने पर सारसको आया देख राजा बोला—  
‘हे सारस ! तू शीघ्र गढको बना ।’ सारसने प्रणाम करके कहा—‘महाराज !  
गढ तो बहुत कालसे देखाभाला यही बड़ा सरोवर ठीक है । परन्तु इस बीचके  
द्वीपमें सामग्री इकट्ठी किया जावे,

यतः,—  
धान्यानां संग्रहो राजनुचमः सर्वसंग्रहात् ।  
निश्चितं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि—हे राजा ! सब संग्रहसे अन्नका संग्रह श्रेष्ठ है, क्योंकि मुखमें  
रक्खा हुआ रत्न अर्थात् धन प्राणोंकी रक्षा नहीं कर सकता है ॥ ५५ ॥

किंच,—  
ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।  
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ॥ ५६ ॥

और—सब रसोंमें प्रसिद्ध नोन रस सचमुच उत्तम है कि जिसके बिना  
ग्रहण किया हुआ भोजनका पदार्थ गोबर सा (खादरहित) लगता है ॥ ५६ ॥

राजाह—‘सत्वरं गत्वा सर्वमनुतिष्ठ ।’ पुनः प्रविश्य प्रतीहारो  
व्रूते—‘देव ! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो  
दारि तिष्ठति । देवपादं द्रष्टुमिच्छति ।’ राजाह—‘काकाः पुनः  
सर्वेशा यदुद्रष्टारश्च । तद्रवात संग्राह्य इत्यनुवर्तते ।’ चक्रो व्रूते—  
‘देव ! जस्त्येवम् । किंतु काकाः स्थलचरः । तेनासद्विपक्षे नियुक्तः  
कथं संग्राह्यः ?

राजा बोला—‘शीघ्र जा कर सब तयारी कर ।’ फिर द्वारपाल जा कर बोला—  
‘इन्से कुछ किद करे’



ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः ।  
ततस्तथानुष्ठिते सति तद्वृत्तम् ।

यह प्रसिद्ध है कि वनमें कोई गीदड़ अपनी इच्छासे नगरके पास घूमते घूमते नीलके हाँदेमें गिर गया । पीछे उसमेंसे निकल नहीं सका, प्रातः काल वनमें मरेके समान दिखला कर बैठ गया । फिर नीलके हाँदेके स्वामीने इसे मरा हुआ जान कर और उसमेंसे निकाल कर दूर ले जा कर फेंक दिया और वहाँसे वह भाग गया । तब उसने वनमें जा कर अपनी देहको नीले रंगकी देख कर विचार किया—‘मैं अब उत्तम वर्ण हो गया हू तो मैं अपनी प्रभुता क्यों न करूँ ? यह विचार सियारोंको बुला कर, उसने कहा—‘श्रीभगवती वनकी देवानोंने अपने हाथसे वनके राज्य पर सब ओपधियोंके रससे मेरा राजतिलक किया है इसलिये आजसे ले कर मेरी आज्ञासे काम करना चाहिये।’ और सियार उसको अच्छा वर्ण देख कर साष्टांग दंडवत् प्रणाम करके बोले—‘जो महाराजकी आज्ञा । इसी प्रकारसे क्रम क्रमसे सब वनवासियोंमें उसका राज्य फैल गया । फिर उसने अपनी जातसे चारों ओर बैठा कर अपना ऐश्वर्य फेलाया, पीछे अपने व्याघ्र सिंह आदि उत्तम मन्त्रियोंको पा कर सभामें सियारोंको देख कर लज्जे मारे अनादरसे सब अपने जातभाइयोंको दूर कर दिया । फिर सियारोंको निन्दा देख कर किसी बूढ़े सियारने यह प्रतिज्ञा की कि ‘तुम खेद मत करो । जैसे इस नूर्खने नीति तथा भेदके जानने वाले हम सभीका अपने पाससे अनादर किया है वैसेही जिन प्रकार यह नष्ट होय सो करना चाहिये । क्योंकि ये वाघ आदि, केवल रंगसे जोखेमें आ गये हैं और सियार न जान कर इसको राजा मान रहे हैं । जिनमें इसका भेद खुल जाय सो करो । और ऐसा करना चाहिये कि उध्याके समय उसके पास सभी एक सग चित्तजो । फिर उस शब्दको सुन कर अपने जातिके स्वभावसे वहभी चिन्ताते उठेगा । फिर वैसा करने पर वही हुआ अर्थात् उतनी पोल खुल गई,

यतः,—

यः स्वभावो हि यस्यास्ति स नित्यं दुरतिक्रमः ।

श्वा यदि क्रियते राजा स कि नाश्रात्युपानहम् ॥ ५८ ॥

क्योंकि—जिसका जैसा स्वभाव है वह सर्वदा घृष्टना कठिन है, जैसे यदि उता राजा कर दिया जाय तो क्या वह जूतेको नहीं चबावेगा ? ॥ ५८ ॥

ततः शब्दादभिधाय स व्याघ्रेण हतः ।

तय शब्दसे पहिचान कर उसे वाघने मार डाला,

तथा चोक्तम्,—

छिद्र मर्म च वीर्यं च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः ।

ददत्यन्तर्गतं श्वेव शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥ ५९ ॥

जैसा कहा है—जिस प्रकार भीतर घुसके अग्नि सूखे पेड़को भस्म कर देता है वैसेही अपना दुस्मन अर्थात् भेदी, छिद्र (कचावट), मर्म (भेद) और पराक्रम(बल)को जानता है और नाश कर देता है ॥ ५९ ॥

राजतो घर्मश्चैपः,—

क्योंकी (सच्चा) धर्म यह है—

दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ६२ ॥

दूत हीन-जाति भी हो पर मारनेके योग्य नहीं होता है, क्योंकि राजाका

दूतही मुख है कि जो शस्त्रोंके उठाने परभी विपरीत नहीं कहता है ॥ ६२ ॥

किं च,—

स्वापकर्पं परोत्कर्पं दूतोकैर्मन्यते तु कः ? ।

सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति ॥ ६३ ॥

और दूतकी बातोंसे अपनी लघुता और शत्रुकी अधिकता कौन मानता है ?

दूत तो नदा 'मैं नहीं मारा जाऊगा' इस भावनासे सभी कुछ कहता है ॥ ६३ ॥

ततो राजा काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय

चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणानीय प्रबोध्य कनकालंकारादिकं दत्त्वा

संप्रेषितो ययौ । शुकोऽपि विन्ध्याचलराजानं प्रणतवान् ।

राजोवाच—'शुक ! का वार्ता ? कीदृशोऽसौ देशः ?' शुको ब्रूते—

'देव ! संक्षेपादियं वार्ता । संप्रति युक्तोद्योगः क्रियताम् । देश-

श्चासौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गकदेशा राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं

वर्णयितुं शक्यते ?' ततः सर्वांश्शिश्यानाहूय राजा मन्त्रयितुमुप-

विष्टः । आह च—'संप्रति कर्तव्यविग्रहे यथा कर्तव्यमुपदेशं ब्रूत ।

विग्रहः पुनरवश्यं कर्तव्यः ।

फिर राजा और काग अपने आपमें आये । तोताभी उठ कर चला । पीछे

चक्रवेणे ला कर और समझा कर और सुवर्णके आभूषण आदि दे कर विदा किया

और बह गया । फिर तोतेने विन्ध्याचलके राजाको दंटवत किया । राजा बोला—'हे

तोते ! क्या समाचार है ? वह कैसा देश है ?' तोतेने कहा—'महाराज ! संक्षेपसे

यह बात है, जब लड़ाईका ठाठ करिये । यह कर्पूरद्वीप देश एक स्वर्गका दुकड़ा

है और राजा दूसरा इन्द्र है । कैसे वर्णन किया जा सकता है ?' फिर सब

शिष्टोंको बुला कर परामर्श (सलाह) करनेके लिये बैठ गया और बोला—'अब

जो लड़ाई करनी है उसमें जो कुछ करना है सो कहो । फिर लड़ाई तो अवश्य

करनीही है ।

तथा चोक्तम्,—

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभुजः ।

सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलस्त्रियः ॥ ६४ ॥

जैसा कहा है—असंतोषी ब्राह्मण, संतोषी राजा, लज्जावती वेश्या और

निर्लज्जा कुलकी स्त्री ये चारों नष्ट होते हैं, अत एव निन्दा करनेके योग्य हैं ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो नृते—'देव ! व्यसनितया विग्रहो न

निधिः ।

दूरदर्शी नाम निद्र बोला—'मदाराज ! बिना अवसरके सपान करनेगे तो नहीं है ।

यतः,—

निवान्नाल्यसुहृद्गो यदा स्युर्दृढभक्तयः ।

राजुगा विपरीताश्च कर्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ ६५ ॥

कौटिलि—मित्र, मन्त्री और आपनके लोग जब इस शुभचिन्ताके हों तब राजुगोंके विपरीत गे तब लड़ाई करनी चाहिये ॥ ६५ ॥

अन्यत्र,—

भस्मिन्नित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलं त्रयम् ।

यदैतन्निश्चितं भावि कर्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६६ ॥

कोर सूत्रे—राज, मित्र और मुण्डे यह तीन लड़ाईके बीज हैं, 'यत्र सौम्यता निश्चिता ये तत्र तत्र लड़ाई करनी चाहिये' ॥ ६६ ॥

राजाह—'मदराज तादात्तोक्तयतु मन्त्री । तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम् । एतादायना मोडुर्निकः । निर्णाय शुभत्वात् दशानाम् । मन्त्रा पुरं— तादात्ति शटया याताहरणमनुवितम् ।

कौटिलि—'मन्त्र, पण्डे नेगी से ताहो दत्त । फिर इनकी ताहि से ताहो ज्ञायताम् । एतादायना मोडुर्निकः । निर्णाय शुभत्वात् दशानाम् । मन्त्रा पुरं— तादात्ति शटया याताहरणमनुवितम् ।

६६,—

नृपणु,—

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।

तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्ब्यूहीकृतैर्वलैः ॥ ६९ ॥

सुनिये—हे राजा ! नदी, पहाड़ वन तथा कठिन स्थानोंमें जहाँ जहाँ भय होय  
हैं वहाँ सेनापति व्यूह बंध कर ( परेट बना कर ) सेनाके साथ जाय ॥ ६९ ॥

वलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषान्वितः ।

मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद्वलम् ॥ ७० ॥

सेनापति बड़े बड़े योद्धाओंके साथ अगाडी चले, और बीचमें ख्रियाँ, स्वामी,  
घेश ( खजाना ) और निर्बल सेना जाय ॥ ७० ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।

रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां च पदातयः ॥ ७१ ॥

दोनों ओर आसपास घोड़े, घोड़ोंके पार्श्वमें रथ, रथोंके आसपास हाथी और  
हाथियोंके आसपास पैदल ॥ ७१ ॥

पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।

मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ ७२ ॥

सेनापति पीछे वाले साहसहीन पुरुषोंको धीरे धीरे ढाढस बँधाता हुआ जाय  
और राजा मंत्रियोंके तथा बड़े शूरवीरोंके साथ सेना ले कर जाय ॥ ७२ ॥

समेयाद्विपमं नागैर्जलाढ्यं समहीधरम् ।

सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७३ ॥

ऊँची नीची भूमिमें, कीचड़ खाँदोंमें, तथा पर्वत पर हाथियों पर जाय, और  
एक-सी भूमिमें घोड़ों पर, और पानीमें नावोंके द्वारा, और सब देशोंमें पैदल  
सेनाको साथ ले कर जाना चाहिये ॥ ७३ ॥

हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।

तदन्यत्र तुरगाणां पत्नीनां सर्वदैव हि ॥ ७४ ॥

और वरसातमें हाथियोंका जाना, और ऋतुमें अर्थात् गरमी और जाडेमें  
घोड़ोंको और पैदलोंका जाना हमेशा श्रेष्ठ कहा है ॥ ७४ ॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृप ! रक्षणम् ।

स्वयोधै रक्षितस्यापि शयनं योगनिद्रया ॥ ७५ ॥

हे राजा ! पर्वतोंमें तथा कठिन कठिन मार्गोंमें अपनी रक्षा अर्थात् साव-  
धानता रखनी चाहिये, और अपने योद्धाओंसे रक्षा किये हुए भी राजाको कपटनी  
नादसे सोना चाहिये, अर्थात् क्षणक्षणमें अपनी रक्षाकी चिन्ता करनी  
चाहिये ॥ ७५ ॥

नाशयेत्कर्पयेच्छशून् दुर्गकण्टकमर्दनैः ।

परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७६ ॥

गड़मो टाल कर, डेरेको तोट कर शत्रुका नाश करे अथवा पकड़ बाँधे और  
१३ हिता०

वलमश्वस्य सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः ।

तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे ॥ ८४ ॥

और सेनाओंके बीचमें घोड़ेकी सेना चलने वाला परकोटा है इसलिये जिस राजाके पास बहुत घोड़े हैं वह स्थलयुद्ध (पटपड़ भूमिके युद्ध)में जीतने वाला होता है ॥ ८४ ॥

यथा चोक्तम्,—

युध्यमाना हयारूढा देवानामपि दुर्जयाः ।

अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्तिनः ॥ ८५ ॥

वैसा ही कहा है—घोड़ों पर चढ़कर लड़ने वाले देवताओंसे भी नहीं जीते ग सकते हैं, उन्हींको दूरके वैरी भी अपने हाथके पास बीसते हैं ॥ ८५ ॥

प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तवलपालनम् ।

दिद्वन्नार्गणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

हत्ती आदि सब चतुरंग सेनाकी रक्षा करना, युद्धकी पहली चतुरता है और दिशाओंके आने जानेके मार्गोंको काट कर युद्ध कर देना यह पैदल सेनाका धर्म कहा है ॥ ८६ ॥

स्वभावशूरमखड्गमविरक्तं जितश्रमम् ।

प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं वलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ८७ ॥

स्वभावहीसे शूर वीर, अखड्गके चलानेमें चतुर, लड़ाईमें पीठ नहीं देने वाले, श्रमको सहने वाले और वीरतामें प्रतिद्ध क्षत्रियोंके समान, ऐसी सेनाको श्रेष्ठत लोग सबसे उत्तम कहते हैं ॥ ८७ ॥

यथा प्रभुक्रतान्मानायुध्यन्ते भुवि मानवाः ।

न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते ! ॥ ८८ ॥

हे राजा ! पृथ्वी पर स्वामीके सन्मान करनेसे जैसे मनुष्य लड़ते हैं वैसे बहुत दिये हुए वनसेभी नहीं लड़ते हैं ॥ ८८ ॥

वरमल्पवलं सार न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।

कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ८९ ॥

वलवान् थोड़ी-सी सेना अच्छी होती है किन्तु बहुत सी मुटोंकी मडली अर्थात् वलहीन सेना श्वट्टी न करनी चाहिये, क्योंकि दुर्बलोंना पीठ दे कर सग्रामसे भागना साक्षात् वलवान् सेनाका भी उल्साहभग कर देता है, याने कायर सेना भाग जाने पर वीरभी उन्हें देख कर कभी कभी भाग उठते हैं ॥ ८९ ॥

अप्रसादोऽनधिष्ठानं देयांशहरणं च यत् ।

कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९० ॥

अप्रसन्न होना, अपिकारी न करना, लटे हुए वनमें आपही ले लेना, चेतन आदि देनेमें आज कल कह कर समय बिताना, और सेनाके विरोध आदिमें उपाय न करना ये वैराग्यके अर्थात् जेह छुटनेके कारण हैं ॥ ९० ॥

आपीडयन्बलं शत्रोर्जिगीपुरतिशोषयेत् ।

सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम् ॥ ९१ ॥

विजय पानेकी इच्छा करने वाला राजा अपनी सेनाको विश्राम देता शत्रुसे जा भिड़े, क्योंकि लंबे मार्ग चलनेसे थकी थकाई शत्रुओंकी सेना घटती जाती जा सकती है ॥ ९१ ॥

दायादादपरो मन्त्रो नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।

तस्मादुत्थापयेद्यत्नादायादं तस्य विद्विषः ॥ ९२ ॥

वैरियोंके भाईबेटोंके छोड़ कर फूट कराने वाला दूसरा मन्त्र (उपाय) नहीं है, इसलिये उन शत्रुके नाते-गोतेके पुरुषको प्रयत्नसे उकसाये अर्थात् तोड़ फोड़ कर अपनी ओर मिलावे ॥ ९२ ॥

संधाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।

अन्तःप्रकोपनं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥ ९३ ॥

युवराजके साथ अथवा मुख्य मन्त्रीके साथ संधि (मेल) करके निरन्तर घेरे-ठापे शत्रुके परमं फूट करा देने चाहिये ॥ ९३ ॥

हूर मितं रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विधातयेत् ।

अथवा गोप्रदाकृष्टया तलक्ष्याश्रितबन्धनात् ॥ ९४ ॥

युद्ध में हूर भी हूर मित (राजा) को मार डाले अथवा जैसे गोधने को मार डालते हैं वैसे ही उग्रहं मुख्य सहायक राजाओं को अन्तम डाल कर मार देना चाहिये ॥ ९४ ॥

क्षराज्यं नाक्षयेद्राजा परदेशावगाहनात् ।

अथवा शनमानाभ्यां वासितं धनदं हि तत् ॥ ९५ ॥

जोर राज्य को नाशयेद्राजा परदेशावगाहनात् । अथवा शनमानाभ्यां वासितं धनदं हि तत् ॥ ९५ ॥

राजा—'ना ! किं यद्भ्रान्तिनेन ?

राजा—'ना ! यद्भ्रान्तिनेन ?

अन्तमोक्षं पण्डितानिर्द्धयं नीतिरितीयती ।

तदस्य हृत्य कृतिभिन्नोद्यमस्य प्रतीयते ॥ ९६ ॥

पर चलने वाला इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है, जैसे निश्चय करके चांदनी और अंधेरेका एक जगह पर होना कहाँ संभव है? अर्थात् नहीं हो सकता है, इसलिये नीतिविरुद्ध नहीं चलना चाहिये ॥ ९७ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकावेदितलश्रे प्रस्थितः ।

तव राजा उठ कर ज्योतिषीके बतलाये लग्नमे लड़ाईके लिये विदा हुआ ।

अथ प्रहितप्रणिधिर्हिरण्यगर्भमागत्योवाच—‘देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । संप्रति मलयपर्वताधित्यकायां समावासितकटकोऽनुवर्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसंधातव्यम्, यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किञ्च केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैव तद्विहितमवगतं मया यदनेन कोऽप्यस्मद्गुणं प्रागेव नियुक्तः ।’ चक्रो ब्रूते—‘देव ! काक एवासौ संभवति ।’ राजाह—‘न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुक्रस्याभिभवोद्योगः कृतः? अपर च । शुक्रस्यागमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स चिरादत्रास्ते ।’ मन्त्री ब्रूते—‘तथाप्यागन्तुः शङ्कनीयः ।’ राजाह—‘आगन्तुका हि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते ।

फिर भेजे हुए दूतने हिरण्यगर्भसे आ कर कहा—‘महाराज ! राजा चित्रवर्ण का पहुँचा है । अब मलय पर्वतकी ऊँची भूमि पर डेरा डाल अपनी सेनाको बसा कर ठहरा हुआ है । गटकी देखभाल क्षणक्षणमें करनी चाहिये, क्योंकि वह निद्ध महामन्त्री है । और किसीके साथ उसकी विश्वासकी बातचीतसेही उसकी चेष्टा मने जान ली कि हमारे गढमे इसने किसी न किसीको पहलेसेही लगा रक्खा है ।’ चक्रवा बोला—‘महाराज ! वह कौवाही होना संभव दीख पड़ता है ।’ राजा बोला—‘यह बात कभी नहीं है । जो ऐसा होता तो कैसे उसने तोतेके अनादर करनेका उद्योग किया है? और दूसरे तोतेके आनेसे उसको लड़ाईका उत्साह हुआ है । वह यहाँ बहुत दिनोंसे रहता है ।’ मन्त्री बोला—‘तोभी आने वाले पर सदेह करना ही चाहिये ।’ राजा बोला—‘आने वाले सचमुच कभी कभी उपकारक दीख पड़ते हैं ।

शृणु,—

परोऽपि हितवान् वन्धुर्वन्धुरप्यहितः परः ।

अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौपधम् ॥ ९८ ॥

सुन,—हित करने वाला शत्रु भी वन्धु है और अहितकारी वन्धु भी शत्रु होता है जैसे देहसे उत्पन्न हुआ रोग अहितकारी होता है और वनमे उत्पन्न हुई औषध हितकारी होती है ॥ ९८ ॥

अपर च,—

आसीदीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।

सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः ॥ ९९ ॥

और दूमरे-शुद्रक नाम राजाका एक वीरवर नाम सेवक था, उसने ३३ कालने अपने पुत्रको दे दिया' ॥ ९९ ॥

चक्रः पृच्छति—'कथमेतत्?' राजा कथयति—

चक्रवा पूछने लगा—'वह क्या कैसे है?' राजा कहने लगा ।—

## ॥ कथा ९ ॥

अहं पुरा शुद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राज  
हंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवानभवम् । तत्र वीरवरो  
नाम महाराजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य राजद्वारमुपगम्य प्रतो  
हारमुवाच—'अहं तावद्धेतनार्थी राजपुत्रः । राजदर्शन कारा ।  
ततस्तेनासौ राजदर्शन कारितो ब्रूते—'देव ! यदि मया सेवनेन  
प्रयोजनमस्ति तदास्मद्धर्तनं क्रियताम् ।' शुद्रक उवाच—'कि  
ते वर्तनम्?' वीरवरो ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि ।'  
राजाह—'ता ते सामग्री?' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू तृतीयश्च  
राह ।' राजाह—'नेतच्छन्यम् ।' तच्छ्रुत्वा वीरवरश्चलितः । अत्र  
भस्त्रिभिरकम्—'देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्तनं दत्त्वा शपतामस्म  
नस्वर्णं तन्मुपयुक्तोऽपमंतावद्धर्तनं गृह्णात्यनुपयुक्तो वेति' । ततो  
भस्त्रिभिरनाश्रुय वीरवराय ताभ्यस्त दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि



काम भी राजाने छुप कर देता । वीरवरने उस धनका आधा देवताओंको और ब्राह्मणोंको अर्पण कर दिया । बचे हुएका आधा दुखियोंको, उससे बचा हुआ भोजनके तथा विलासादिमें खर्च किया । यह सब नित्य काम करके वह राजके द्वार पर रातदिन हाथमें खड्ग ले कर सेना करता जा और जब राजा आप आज्ञा देता तब अपने घर जाता था ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ राजा सकरुणं क्रन्दनध्वनिं श्रुत्वा । शूद्रक उवाच—‘कः कोऽत्र द्वारि ?’ तेनोक्तम्—‘देव ! अहं वीरवरः ।’ राजोवाच—‘क्रन्दनानुसरणं क्रियताम् ।’ वीरवरो ‘यथाज्ञापयति देवः’ इत्युक्त्वा चलितः । राज्ञा च चिन्तितम्—‘नैतदुचितम् । अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचि-मेधे तमसि प्रेरितः । तदनु गत्वा किमेतदिति निरूपयामि ।’ ततो राजापि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्वहिर्निर्जगाम । गत्वा च वीरवरेण सा रदती रूपयौवनसंपन्ना सर्वालंकारभू-पिता काचित्स्त्री दृष्टा । पृष्टा च—‘का त्वम् ? किमर्थं रोदिषि ?’ स्त्रियोक्तम्—‘अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः । चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता । इदानीमन्यत्र गमि-ष्यामि ।’ वीरवरो ब्रूते—‘यत्रापायः संभवति तत्रोपायोऽप्य-स्ति । तत्कथं स्यात्पुनरिहावलम्बनं भवत्याः ?’ लक्ष्मीरुवाच—‘यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वारिशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि तदाहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि’ इत्युक्त्वाऽदृश्याभवत् ।

फिर एक समय कृष्णपक्षकी चौदसके दिन, रातको राजाने कृष्णासहित रोनेका शब्द सुना । शूद्रक बोला—‘यहाँ द्वार पर कौन कौन है ?’ उसने कहा—‘महाराज ! मैं वीरवर हूँ ।’ राजाने कहा—‘रोनेकी तो टोह लगाओ ।’ “जो महाराजकी आज्ञा” यह कह कर वीरवर चल दिया । और राजाने विचारा—‘यह बात उचित नहीं है कि इस राजकुमारको मैंने गुप्प अंधेरेमें जाने की आज्ञा दी । इसलिये उसके पीछे जा कर यह क्या है इसका निश्चय करें ।’ फिर राजा भी खड्ग ले कर उसके पीछे नगरसे बाहर गया । और वीरवरने जा कर उस रोती हुई, रूप तथा यौवनसे सुन्दर और सब आभूषण पहिरे हुए किसी स्त्रीको देखा और पूछा—‘तू कौन है ? किसलिये रोती है ?’ स्त्रीने कहा—‘मैं इस शूद्रककी राजलक्ष्मी हूँ । बहुत कालसे इसकी भुजाओंकी छायामें बड़े सुखसे विग्राम करती थी । अब दूसरे स्थानने जाऊँगी ।’ वीरवर बोला—‘जिसने जपाय(नाश)का संभव है उसने उपाय भी है । इसलिये कैसे फिर यहाँ आपका रहना होय ?’ लक्ष्मी बोली—‘जो तू बत्तीस लक्षणोंसे संपन्न अपने पुत्र शक्तिधरको सर्वमङ्गला देवकी भेट करे तो मैं फिर यहाँ बहुत काल तक रहूँ ।’ यह कह कर वह अर्पण हो गई ।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा निद्रायमाणा स्वचधू-प्ररोक्षित्य  
 पुत्रश्च । तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ । वीरवरस्तत्तर्भ  
 लक्ष्मीवचनमुक्तवान् । तच्छ्रुत्वा सानन्दः शक्तिधरो ब्रूते—‘धन्यो  
 ऽहमेवंभूतः स्वामिराज्यरक्षार्थं यन्ममोपयोगः श्लाघ्यः । तत्को  
 ऽयुना विलम्बस्य हेतुः ? एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः  
 श्लाघ्यः ।

द्वि वीरवरने अपने पर जा कर सोती भई अपनी स्त्रीको और तेरे  
 जगता । वे दोनों नोंदो जो उठ कर बैठे हो गये । वीरवरने यह सब उद्गी  
 वचन कह मुनाया । उसे मुन कर शक्तिधर आनन्दसे बोला—‘भे धन्य हूँ जो मे  
 नानीके राज्यकी रक्षाके लिये मेरा उपयोग प्रशसनीय है । इसलिये अय  
 न्यका न्या कारण है ? ऐसे काममें देहका लाग प्रशसनीय है ।

अतः,—

जनानि जीपितं चेत् परार्थे प्राज्ञ उतरुजेत् ।

‘मद्विमित्तं वर लागो विनाशे नियते सति’ ॥ १०० ॥

प्रहारेण हनिष्यसि । ततः सुवर्णकलशो भविष्यति, तेन त्वया याव-  
ज्जीवं सुखिना भवितव्यम् ।' ततस्तथानुष्ठिते तद्वृत्तम् । तत्र  
क्षौरकरणायानीतेन नापितेनालोक्य चिन्तितम्—'अये ! निधि-  
प्राप्तेरयमुपायः । अहमप्येवं किं न करोमि ?' ततःप्रभृति नापितः  
प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते ।  
एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः । तस्मादपराधात्सोऽपि  
नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लुब्धं  
पदेकेन' इत्यादि ।

अयोध्यामें चूडामणि नाम एक क्षत्रिय रहता था । उस धनके अभिलाषीने  
वड़े क्रोधसे भगवान् महादेवजीकी बहुत काल तक आराधना की । फिर जब यह  
क्षीणपाप हो गया तब महादेवजीकी आज्ञासे कुबेरने सुपनेमें दर्शन दे कर आज्ञा  
दी कि—जो तू आज प्रातः काल और क्षौर कराके लाठी हाथमें ले कर घरमें एकातमें  
दुर कर बैठेगा तो इसी आँगनमें एक भिखारीको आया हुआ देखेगा । जब तू  
उसे निर्दय हो कर लाठीकी प्रहारोंसे मारेगा तब वह सुवर्णका कलश हो जायगा ।  
उससे तू जब तक जियेगा सुखसे रहेगा ।' फिर वैसा करने पर वही बात हुई ।  
वहाँ क्षौर करनेके लिये बुलाया हुआ नाई सोचने लगा—'अरे ! धन पानेका  
यही उपाय है, मैं भी ऐसा क्यों न करूँ ?' फिर उस दिनसे नाई वैसा ही लाठी  
हाथमें लिये एकातमें भिखारीके आनेकी राह देखा करे । एक दिन उसने  
भिखारीको पा लिया और लाठीसे मार डाला । अपराधसे उस नाईको भी राजाके  
पुरुषोंने मार डाला । इसलिये मैं कहता हूँ, "किसीको पुण्यसे मिल गई"  
इत्यादि ।'

राजाह—

'पुरावृत्तकथोद्धारैः कथं निर्णयते परः ।

स्यान्निष्कारणवन्धुर्वा किं वा विश्वासघातकः ॥ १०६ ॥

राजा बोला—'पहले हो गई कथाओंके कहनेसे नवीन आया हुआ ऐसे  
निश्चय किया जाय कि यह अकृत्रिम वाक्य है अथवा विश्वासघाती है ॥१०६॥

यातु । प्रस्तुतमनुसंधीयताम् । मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्णस्तद-  
धुना किं विधेयम् ?' मन्त्री वदति—'देव ! आगतप्रणिधिमुत्तमान्मया  
श्रुतं तन्महामन्त्रिणो नृधस्योपदेशे, यच्चित्रवर्णनानादरः कृतः ।  
नतोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः ।

उसे जाने दो । अब जो उपस्थित है उसका विचार करो । मलय पर्वतके  
ऊपर जो चित्रवर्ण ठहरा है इसलिये अब क्या करना चाहिये ?' मन्त्री बोला—'हे  
नराराज ! लोट पर आये हुए दूतके मुँहसे मने यह सुना है कि उस महामन्त्री  
उपदेश उपदेश परचित्रवर्णने अनादर किया है । फिर उस मूर्खको जीत सकते हैं ।

ना प्यारे ! किसलिये हमारा अनादर करता है ? क्या कभी मैंने तेरा अनादर किया है ?

या चोक्तम्,—

न राज्यं प्राप्तमित्येवं वर्तितव्यमसांप्रतम् ।

श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ ११२ ॥

जैसा कहा है—राज्य मिल गया यह जान कर अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये । क्योंकि कठोरता निश्चय करके लक्ष्मीको ऐसे नाशमें मिला देती है जैसे सुन्दर रूप-रंगको बुढ़ापा ॥ ११२ ॥

पि च,—

दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी ।

अभ्यासी विद्यान्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः ॥ ११३ ॥

और भी—चतुर पुरुष लक्ष्मीको, सुन्दर और हलका भोजन करने वाला रोगरोगताको, रोगहीन सुखको, अभ्यासी विद्याके अतको, और सुशील अर्थात् धर्मतादिगुणोंसे युक्त मनुष्य वमें, धन और यशको पाता है ॥ ११३ ॥

गृध्रोऽवदत्—‘देव ! शृणु,—

गिद्ध बोला—‘महाराज ! सुनिये,—

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।

परा श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥ ११४ ॥

मूर्ख राजा भी पण्डितोंकी सेवासे जलके समीपके वृक्ष(जल और शोभाको पाते हैं उन्हीं)के समान उत्तमोत्तम संपत्तिको पाता है ॥ ११४ ॥

अन्यच्च,—

पानं स्त्री मृगया द्यूतमर्थदूषणमेव च ।

वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥ ११५ ॥

और दूसरे—मद्य आदिका पीना, परस्त्रीका संग, आखेट, जुआ, अन्यायसे किया धन लेना, और बचन तथा दठमे रुखाई और कठोरता ये राजाओंके भ्रमगुण कहे हैं, अर्थात् उनका त्याग करना अवश्य है ॥ ११५ ॥

कि च,—

न साहसैकान्तरसानुवर्तिना

न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।

विभूतयः शक्यमवानुमूर्जिता

नये च शौर्ये च वसन्ति संपदः ॥ ११६ ॥

और (बुराई मलाईवो बिना विचारे) केवल साहस करने वाला, और उपायसे उपहत भित्तवाला, अथवा ऐश्वर्यको नहीं पा सकता है, क्योंकि जहा पर शक्ति और शूरता रहती है वहाही संपत्तियों रहती है ॥ ११६ ॥

त्वया स्वयलोत्साहमवलोक्य साहसैकवासिना मयोपन्यस्तेष्वपि

त्रारे ! यह मेरा अपराध हुआ । अब जैसे बची हुई सेनाके साथ लौट कर ध्याचल पहुँच जाऊँ वैसा उपाय बता ।' गिद्ध अपने जीमें सोचने लगा,—सका कुछ ना कुछ उपाय करना चाहिये ।

तः,—

देवतासु गुरौ गोपु राजसु ब्राह्मणेषु च ।

नियन्तव्यः सदा कोपो बालवृद्धातुरेषु च' ॥ १२० ॥

क्योंकि—देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, बूढ़ा, और रोगी न पर क्रोध रोकना चाहिये' ॥ १२० ॥

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव ! मा भैपीः । समाश्वसिहि शृणु देव !

मन्त्री (यह अपने जीमें विचार कर) हँस कर बोला—'महाराज ! मत डरिये और धीरज धरिये, हे महाराज ! सुनिये,—

मन्त्रिणा भिन्नसंधाने भिषजां सांनिपातिके ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः ? ॥ १२१ ॥

लड़ाईके समय शत्रुसे मेल करानेमें मन्त्रियोंकी, सन्निपात(ज्वर) रोगमें वैद्योंकी और कार्योंके साधनमें दूसरोंकी बुद्धि जानी जाती है, और यों बड़े ठाले होने पण्डित नहीं है ? ॥ १२१ ॥

पर च,—

आरभन्तेऽल्पमेवाशाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।

महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ १२२ ॥

और दूसरे—बुद्धिहीन, छोटे ही कामका आरभ करते हैं और अखन्त शकल हो जाते हैं । बुद्धिमान् बड़े बड़े काम करते हैं और कभी विकल नहीं होते हैं ॥ १२२ ॥

इदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गे भङ्क्त्वा कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचि-  
ण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि ।' राजाह—'कथमधुना स्वल्प-  
लेन तत्संपद्यते ?' गृध्रो वदति—'देव ! सर्वं भविष्यति । यतो  
रेजिगीपोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवदयंभावि लक्षणम् । तत्स-  
सैव दुर्गाविरोधः क्रियताम् ।'

इसलिये यहाँ आपके पुण्यप्रतापसेही गढ़को तोड़ फोड़ यश और पराक्रम-  
हित आपको शीघ्र विन्ध्याचलको ले चलेगा ।' राजा बोला—'अब पोंडीची सेनासे  
ह कैसे होगा ?' गिद्धने कहा—'महाराज ! सब कुछ हो जायगा । क्योंकि जय  
गढ़ने वालेको दीर्घसूत्रता ( कालक्षेप ) न होना जयकी सिद्धिमा अवश्य होनेहार  
क्षण है । इसलिये एकाएक ही गढ़ चारों ओरसे घेर लीजिये ।'

प्रहितप्रणयिना वकेनागत्य हिरण्यगर्भस्य तत्कथितम्—'देव !  
स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य मन्त्रोपस्तम्भेन दुर्गाविरोधं  
रिष्यति ।' राजाह—'सर्वत्र, किमधुना विधेयम् ?' चक्रो ब्रूते—

१ वात, पिच और वक्र इन तीन दोषोंके सन्निपातसे होने वाला ज्वर या  
२ य रोग गन्धर्व प्राणपातक माने गये है ।

आपत्ति कहीं ?' राजा बोला—'जो लक्ष्मी चली जाय तो ?' मंत्री बोला—'सचित धन भी नष्ट हो जाय तो ? इसलिये महाराज ! कृपणताको छोड़ दान और मानसे अपने शूर वीरोंका आदर कीजिये ।

तथा चोक्तम्,—

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान्सुनिश्चिताः ।

कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विपद्वलम् ॥ १२६ ॥

जसा कहा है—आपसमें एक दूसरेकी सहायता करने वाले, प्रसन्नचित्त, प्राणोंको (स्वामीके लिये, संग्राममें) झोंकने वाले, (शत्रुके मारनेका निश्चय सकल्प करने वाले, धेष्ट कुलमें उत्पन्न हुए) और अच्छे प्रकारसे सम्मान किये गये ऐसे शूरवीर शत्रुकी सेनाको विजय करते हैं ॥ १२६ ॥

अपर च,—

सुभटाः शीलसंपन्नाः संहृताः कृतनिश्चयाः ।

अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम् ॥ १२७ ॥

और दूसरे—अच्छे स्वभाव वाले, आपसमें मिले हुए, और विना-मरे मारे नहीं छोड़ेंगे ऐसा निश्चय करने वाले, पाँच सौ भी बड़े बड़े शूर वीर योधा बैरीकी सेनाका नाश कर देते हैं ॥ १२७ ॥

किं च,—

शिष्टैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः ।

त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः ॥ १२८ ॥

और महामूर्ख, दुष्ट प्रकृति वाला, कृतघ्न और स्वार्थी मनुष्यको सज्जन भी छोड़ देते हैं, फिर दूसरोंका क्या कहना है ? अर्थात् ऐसेको सब त्याग देते हैं ॥ १२८ ॥

यतः,—

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।

पभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥ १२९ ॥

क्योंकि—सत्य, शूरता, दया और दान याने उदारता ये राजाके बड़े गुण हैं, और इन गुणोंसे रहित राजाकी निश्चय करके वाच्यता(निन्दा)को पाता है ॥ ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदेव पुरस्कृतव्याः ।

ऐसे समय पर पहले मंत्रियोंका सत्कार होना चाहिये,

तथा चोक्तम्,—

यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी व्ययी ।

स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च ॥ १३० ॥

जसा कहा है,—जो जिससे बँधा हुआ है और उसीके साथ जिसका उदय और रास (क्षति) है ऐसे भरोसेके मनुष्यको प्राणोंकी रक्षाके कार्योंमें लगाना चाहिये ॥ १३० ॥

यतः,—

पुरस्कृत्य वलं राजा योधयेदवलोकयन् ।

स्वामिनाधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते भ्रुवम् ॥ १३६ ॥

क्योंकि—राजा आप देखता हुआ सेनाको आगे करके लड़ावे, क्योंकि स्वामीसे लहकाया हुआ कुत्ता भी क्या सचमुच सिंहकी भौंति बल नहीं दिखाता है? अर्थात् अवश्य ही दिखाता है ॥ १३६ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वार गत्वा महाहवं कृतवन्तः । अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच—‘तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय ।’

गृध्रो ब्रूते—‘देव ! शृणु तावत्,

पीछे उन सभीने गढके द्वार पर जा कर बड़ा घोर युद्ध किया । दूसरे दिन चित्रवर्ण राज गिद्धसे बोला—‘प्यारे ! अब अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर ।’ गिद्ध बोला—‘महाराज ! पहले सुन लीजिये,—

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ।

अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३७ ॥

बहुत काल तक घेरा न सहने वाला अर्थात् कच्चा, अत्यंत खल्प सेन्य-युक्त मूर्ख और मद्यपानादि दोषयुक्त जिसका नायक हो, जिसकी अच्छे प्रकारसे रक्षा नहीं की गई हो और जिसमें कायर और डरपोक योद्धा हों वह गढकी विपत्ति कही गई है ॥ १३७ ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

सो बात तो यहाँ नहीं है ।

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।

दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १३८ ॥

गढकी भीतरी सेनामें किसी भेदियेको भेज कर फूट करा देना, बहुत काल तक चारों ओरसे घेरे पड़े रहना, बार बार शत्रु पर चढ़ाई करना और अत्यन्त साहस दिखलाना ये चार गढके जीतनेके उपाय हैं ॥ १३८ ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः ( कर्णे कथयति । ) एवमेवम् ।’ ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु वृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तर-गृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः । ततः ‘गृहीतं गृहीतं दुर्गम्’ इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताग्निमवलोक्य राजहंससैनिका दुर्ग-वासिनश्च सत्वर हृदं प्रविष्टाः ।

इसमें शक्तिके अनुसार उपाय किया जाता है । ( कानमें कहने लगा ) इस प्रकार इस प्रकार ।’ फिर एक दिन सूर्यके बिना ही निकले गढ़के चारों द्वारों पर धनपोर युद्ध होने पर गढके भीतरके डेरोंमें कौबोंने आग लगा दी । फिर तो ‘गढ़को ले लिया ले लिया’ यह हुर्रा सुन कर चारों ओर आगको बधकती हुई देख कर राजहंसकी सेनाके शूर वीर और गढके रहने वाले शीघ्र तरोवरमें उच गये,

चले जाना ठीक है, पर प्राणीका मरण अवश्य ही है इसलिये जा कर क्यों वृथा अपना यश मलीन करना चाहिये? ॥ १४१ ॥

अन्यच्च,—

भवेऽस्मिन्पवनोऽङ्गान्तवीचिभ्रमभङ्गुरे ।

जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४२ ॥

और दूसरे—वायुसे उठी हुई तरंगोंके खेलके समान क्षणभंगुर इस असार सारमें पराये उपकारके लिये प्राणोंका त्याग बढ़े पुण्यसे होता है ॥ १४२ ॥

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्ग कोशो वलं सुहृत् ।

राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥ १४३ ॥

और स्वामी, मंत्री, राज्य, गढ, कोश, सेना, मित्र और पुरवासियोंके समूह ये राज्यके अंग हैं ॥ १४३ ॥

देव ! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः ।

और हे महाराज ! आप स्वामी हैं, आपकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये,

यतः,—

प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धापि न जीवति ।

अपि धन्वन्तरिवैद्यः किं करोति गतायुषि? ॥ १४४ ॥

क्योंकि—स्वामीको त्याग कर प्रजा, सब ऐश्वर्यसे युक्त भी नहीं जीती है, जैसे आयु वीतने पर धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकता है? ॥ १४४ ॥

अपरं च,—

नरेशे जीवल्लोकोऽयं निमीलति निमीलति ।

उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्' ॥ १४५ ॥

और दूसरे—सूर्यके उदय तथा अस्त होनेसे कमलके समान, राजाके मरने पर यह जीवलोक मरता है और उदय होने (जीने) पर जीता है' ॥ १४५ ॥

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाघातः कृतः । तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहान्तरितो राजा जले क्षिप्तः । अथ कुक्कुटैर्नखप्रहारजर्जरीकृतेन सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हताः । पश्चात्सारसोऽपि चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः । अथ चित्रवर्णो दुर्ग प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा वन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः स्वस्कन्धावार जगाम ॥

फिर मुर्गेने आ कर राजहंसके शरीर पर चड़े तीखे तीखे नोहटे मारे । तब सारसने तुरन्त पास जा कर और अपनी देहसे लिपा कर राजाको जलमें फेंक दिया । फिर मुर्गेके नोहटोंसे व्याकुल हुए सारसने मुर्गेकी सेनाको बहुत मारा । पीछे सारस नी चोंचोंके प्रहारसे लिद कर मारा गया । फिर चित्रवर्ण गटमें घुस कर गटमें परे हुए द्रव्यको लिवा कर बदिजनोंके जय जय शब्दसे प्रसन्न होता हुआ अपने उरने चला गया ।



# हितोपदेशः ।

॥ संधिः ४ ॥

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—‘आर्य ! विग्रहः श्रुतो-  
साभिः । संधिरधुनाऽभिधीयताम् ।’

फिर कथाके आरम्भमें राजपुत्रोंने कहा—‘हे गुरुजी ! हम विग्रह सुन चुके ।  
व सन्धि सुनाइये ।’

विष्णुशर्मणोक्तम्—‘श्रूयताम्, संधिमपि कथयामि यस्या-  
माद्यः श्लोकः—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।

स्थेयाभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात् ॥१॥

विष्णुशर्मणे कहा—‘सुनिये, संधि भी कहता हूँ कि जिसके आदिका यह  
कथ है—दोनों राजाओंकी सेनाके मरने पर और घनघोर युद्ध होने पर  
द्वे और चक्रवेने पच बन कर शीघ्र मेल करा दिया’ ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—‘कथमेतत् ?’ विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—‘यह कथा कैसे है ?’ विष्णुशर्मा कहने लगे ।—

॥ कथा १ ॥

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—‘केनास्सद्गुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? कि पार-  
त्येण किं वास्सद्गुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?’ चक्रो व्रूते—  
देव ! भगवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते ।  
न्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।’ राजा क्षणं विचिन्त्याह—  
नस्ति तावदेव मम दुर्देवमेतत् ।

फिर उस राजहंसने कहा—‘हमारे किलेमें किसने आँच लगाई है ? शत्रुने  
क्या शत्रुसे सिखाये हुए किसी हमारे गढके रहने वालेने ?’ चक्रवा बोला—  
‘हाराज ! आपका अकृत्रिम बन्धु वह मेघवर्ण अपने परिवारसहित नहीं देखता  
इसलिये यह उसीका काम देख पड़ता है ।’ राजाने क्षण भर सोच कर  
कहा—‘यह मेरी प्रारब्ध ही फटी है,

अथा चोक्तम्,—

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।

कार्यं सुचरितं चापि दैवयोगाद्द्विनश्यति ॥ २ ॥

जसा कहा है—वह प्रारब्धका दोष है कुछ यह मन्त्रियोंका नहीं है, क्योंकि  
कहीं अच्छे प्रकारसे किया हुआ काम भी नाशके बशसे विगट जाता है’ ॥ २ ॥

मन्त्री व्रूते—‘उक्तमेवैतत्,—

मन्त्री बोला—ऐसा भी कहा है,—

विपमा हि दशा प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।

आत्मनः कर्मदोषाश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—‘तस्मिन् राजवले स पुण्यवान्सारस एव येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः ।’

फिर राजकुमारोंने कहा—‘उस राजाकी सेनामें एक सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपनी देहको त्याग करके स्वामीकी रक्षा की ।

उक्तं चैतत्,—

जनयन्ति सुतान्गावः सर्वा एव गवाकृतीन् ।

विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्’ ॥ १४६ ॥

और ऐसा कहा है कि—सभी गायें गौके आकारके समान बछड़ोंसे जनती हैं परन्तु दोनों सींगोंसे स्पष्ट देखते हुए कधे वाले सॉइको विरलीही जनती है’ १४६

विष्णुशर्मोवाच—‘स तावद्विद्याधरीपरिजनः स्वर्गसुखमनुभवतु महासत्त्वः ।

विष्णुशर्मा बोले—‘वह महात्मा सारस विद्याधरियोंके परिवारके साथ स्वर्गमें सुख भोगें ।

तथा चोक्तम्,—

आह्वयेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।

भर्तृभक्ताः कृतशाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १४७ ॥

जैसा कहा है—जिन शूर वीरोंने सप्राममे अपने स्वामीके लिये प्राणत्याग किया है वे स्वामीके भक्त तथा राजाके उपकारको मानने वाले मनुष्य स्वर्गको पाते हैं ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।

अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि क्लैव्यं न गच्छति ॥ १४८ ॥

और जिस किसी स्थानमें शत्रुओंसे घिर कर मरा हुआ शूर जो युद्धभूमि छोड़ न भागे तो अमर लोकोंको पाता है ॥ १४८ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः’ राजपुत्रैरुक्तम्,—‘श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम् ।’

‘आपने विग्रह सुन लिया ।’ राजपुत्रोंने कहा—‘हम सुन कर बहुत मुषी हुए ।’

विष्णुशर्माऽत्रवीन्—‘अपरमप्येवमस्तु—

विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि-

र्नो कदापि भवतां मर्हाभुजाम् ।

नीतिमन्त्रपवनैः समाहृताः

संश्रयन्तु गिरिगद्वर द्विपः’ ॥ १४९ ॥

इति हितोपदेशे विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः समाप्तः ।

विष्णुशर्मा बोले—‘वह और भी होय—आपके समान महाराजा-नका कर्म देखा घोंटे और पैदल आदि सेनासे सप्राम न होय और नीतिके मन्त्रपुत्रों पवनसे उभाये गये शत्रु पर्वतकी मुफामे आगरा ले’ ॥ १४९ ॥

५- राने-रानदृष्टा किया हुआ हितोपदेश ग्रन्थके विग्रह नामक तीसरे

भागका नामा अनुवाद समाप्त हुआ शुभम्.

# हितोपदेशः ।

॥ संधिः ४ ॥

पुनः कथारम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—‘आर्य ! विग्रहः श्रुतो-  
ऽस्माभिः । संधिरधुनाऽभिधीयताम् ।’

फिर कथाके आरम्भमें राजपुत्रोंने कहा—‘हे गुरुजी ! हम विग्रह सुन चुके ।  
भव सन्धि सुनाइये ।’

विष्णुशर्मणोक्तम्—‘श्रूयताम्, संधिमपि कथयामि यस्या-  
पमाद्यः श्लोकः—

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।

स्थेयाभ्या गृध्रचक्राभ्यां वाचा संधिः कृतः क्षणात् ॥१॥

विष्णुशर्मने कहा—‘सुनिये, संधि भी कहता हूँ कि जिसके आदिका यह  
शक्य है—दोनों राजाओंकी सेनाके मरने पर और घनघोर युद्ध होने पर  
निद्र और चक्रवेने पच वन कर शीघ्र मेल करा दिया’ ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—‘कथमेतत् ?’ विष्णुशर्मा कथयति—

राजपुत्र बोले—‘यह कथा कैसे है ?’ विष्णुशर्मा कहने लगे ।—

॥ कथा १ ॥

ततस्तेन राजहंसेनोक्तम्—‘केनासद्गुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? कि पार-  
स्येण किं वासद्गुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?’ चक्रो ब्रूते—  
‘देव ! भगवतो निष्कारणवन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न दृश्यते ।  
तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।’ राजा क्षणं विचिन्त्याह—  
‘अस्ति तावदेव मम दुर्दैवमेतत् ।

फिर उस राजहंसने कहा—‘हमारे किलेमें किसने आँच लगाई है ? शत्रुने  
अथवा शत्रुसे सिखाये हुए किसी हमारे गढके रहने वालेने ? ।’ चक्रवा बोला—  
महाराज ! आपका अकृत्रिम बन्धु वह मेघवर्ण अपने परिवारसहित नहीं देखता  
है इसलिये यह उसीका काम देख पडता है ।’ राजाने क्षण भर सोच कर  
कहा—‘यह मेरी प्रारब्ध ही फूटी है,

तथा चोक्तम्,—

अपराध. स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।

कार्यं सुचरितं कापि दैवयोगाद्धिनश्यति ॥ २ ॥

जसा कहा है—वह प्रारब्धका दोष है कुछ यह मंत्रियोंका नहीं है, क्योंकि  
यहाँ अच्छे प्रकारसे किया हुआ काम भी भाग्यके वशसे विगड जाता है’ ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते—‘उक्तमेवैतत्,—

मन्त्री बोला—ऐसा भी बहा है,—

विपमा हि दशा प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।

आत्मनः कर्मदोषाश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

मूर्ख मनुष्य बुरी दशाको पा कर भाग्यकी निन्दा करता है और अपने कर्मके दोषोंको नहीं जानता है ॥ ३, ॥

अपरं च,—

सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।

स कुर्म इव दुर्वुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥ ४ ॥

और दूसरे—जो मनुष्य हितकारी मित्रोंका कदा नहीं मानता है वह मूर्ख काटसे गिरे हुए कछुएके समान मरता है ॥ ४ ॥

राजाह—‘कथमेतत् ?’ मन्त्री कथयति—

राजा बोला—‘यह क्या कैसे है ?’ मन्त्री कहने लगा ।—

### ॥ कथा २ ॥

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सर । तत्र चिरं सकट-  
विकटनामानौ हंसौ निवसत । तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कुर्मश्च  
प्रतिवसति । अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तम्—‘तदत्रास्माभिर-  
द्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः ।’ तदाकर्ण्य कूर्मो  
हंसावाह—‘सुहृदौ ! श्रुतोऽयं धीवरालापः । अधुना किं मया कर्त-  
व्यम् ?’ हंसावाहतुः—‘शायताम् । पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्त-  
व्यम् ।’ कूर्मो ब्रूते—‘मैवम् । यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र ।

मगध देशमें फुल्लोत्पल नाम एक सरोवर है । वहाँ बहुत कालसे सकट और  
त्रिष्ट नामक दो हंस रहा करते थे और उन दोनोंका मित्र एक कम्बुग्रीव नाम  
कडुआ रहता था । फिर एक दिन धीवरोंने वहाँ आ कर कहा कि—आज हम  
यहाँ रह कर प्रातः काल मछली कडुआ आदि मारेंगे’ यह सुन कर कडुआ हंसोंने  
क्रोधने लगा—‘हे मित्रो ! धीवरोंकी यह बात मैंने सुनी । अब मुझे क्या करना  
उचित है ?’ हंसोंने कहा—‘समझलो । फिर प्रातः काल जो उचित हो सो करना ।’  
कडुआ बोला—‘ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं यहाँ पर सत्रा देस चुका हू ।

तथा चोक्तम्,—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।

द्रावितौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ५ ॥

जैसा कहा है—अनागतविधाता याने आगे होने वाली बातको प्रथमही सोचने  
वाला और प्रत्युत्पन्नमति जर्पित् अवसर जान कर कार्य करने वाला इन दोनों  
जनद गोगा और यद्भविष्य मारा गया ॥ ५ ॥

तावाहतु—‘कथमेतत् ?’ कूर्मः कथयति—

वे दोनों जोड़े—‘यह क्या कैसे है ?’ कडुआ कहने लगा ।—

### ॥ कथा ३ ॥

पुरालिखेत् सरस्येवंविधेषु वीररेवूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणाद्यो-  
चितम् । तत्रानागतविधाता नामको मत्स्यः । तेनाद्योचितम्—

हं तावज्जलाशयान्तरं गच्छामि' इत्युक्त्वा हृदान्तरं गतः ।  
 परेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितम्—'भविष्यदर्थं प्रमा-  
 भावात्कुत्र मया गन्तव्यम्? तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम् ।  
 पहिले इसी सरोवर पर जब ऐसे ही धीवर आये थे तब तीन मछलियोंने विचार  
 या । और उनमें अनागतविधाता नाम एक मच्छ जा, उसने विचार किया—'मैं  
 दूसरे सरोवरको जाता हूँ ।' यह कह कर यह दूसरे सरोवरको चला गया । फिर  
 उसे प्रत्युत्पन्नमति नाम मच्छने कहा—'होने वाले काममें निश्चय न होनेसे मैं  
 हूँ जाऊँ? इसलिये काम आ पढ़ने पर जैसा होगा वैसा करूंगा ।

था चोक्तम्,—

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।

वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निहृतो यथा' ॥ ६ ॥

जैसा कहा है—जो उत्पन्न हुई आपत्तिका उपाय करता है वह बुद्धिमान् है,  
 वे कि वनियेकी स्त्रीने प्रत्यक्षमें जारको छुपा लिया' ॥ ६ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत्?' प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—  
 यद्भविष्य पूछने लगा—'यह कथा कैसे है?' प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा ।—

### ॥ कथा ४ ॥

पुरा विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति । तस्य रत्नप्रभा  
 तिम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते । अथैकदा सा रत्नप्रभा  
 तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनावलोकिता । ततः  
 ता वन्धकी सत्वर भर्तुः समीपं गत्वाह—'नाथ! एतस्य सेवकस्य  
 हती निर्वृतिः । यतोऽयं चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादतीति  
 यास्य मुखमाघ्राय ज्ञातम् । तथा चोक्तम्—“आहारो द्विगुणः  
 तीणाम्” इत्यादि ।' तच्छ्रुत्वा सेवकेन प्रकुप्योक्तम्—'नाथ! यस्य  
 तामिनो गृह एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्यातव्यं यत्र  
 तिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिहति ।' ततोऽसावुत्थाय चलितः  
 ताधुना यत्नात्प्रबोध्य धृतः । अनोऽहं ब्रवीमि—“उत्पन्नामापदम्”  
 त्यादि ॥'

किसी समय विक्रमपुरमें समुद्रदत्त नाम एक वनिया रहता था । उसकी  
 रत्नप्रभा नाम स्त्री अपने सेवकके संग सदा व्यभिचार किया करती थी । पीछे एक  
 दिन उस रत्नप्रभाको उस सेवकका मुखचुम्बन करते हुए समुद्रदत्तने देख  
 दिया । फिर वह व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिके पास जा कर बोली—'हे  
 जानी! इस सेवकको पदा सुख है, क्योंकि यह चोरी करके कर्पूर खाया  
 करता है, यह मैंने इसका मुख चूँप कर जान लिया । जैसा कहा है—'छिपोंका

भोजन दूना होता है' इत्यादि । यह सुन कर सेवकने क्रोध कर कहा—'हे स्वामी जिस स्वामीकी ऐसी स्त्री है वहाँ सेवक कैसे टिक सकता है कि जहाँ सेवकका घरवाली सेवकका मुख सूँघती है ?' फिर वह उठ कर जाने लगा तब मालिन्य जों तों करके समझा कर रख लिया । इसलिये मैं कहता हूँ—'आपत्तिके उत्तर होने पर' आदि ।'

ततो यद्भविष्येणोक्तम्,—

यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।

इति चिन्ताविषयोऽयमगदः किं न पीयते' ॥ ७ ॥

फिर यद्भविष्यने कहा—'जो होनहार नहीं है वह कभी नहीं होगा, और होनहार है उससे उलटा न होगा अर्थात् अवश्य होगा यह चिन्तारूपी विषय नाश करने वाली औषध क्यों नहीं पीते हो ?' ॥ ७ ॥

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं संदर्शय स्थितः । ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्सृत्य गभीर नीरं प्रविष्टः । यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः । अतोऽपि ब्रवीमि—“अनागतविधाता” इत्यादि ॥ तद्यथाहमन्यहृदं प्राप्तोऽपि तथा क्रियताम् ।' हंसावाहतुः—'जलाशयान्तरे प्राप्ते तेषां कुशलम् । स्थले गच्छतस्ते को विधिः ?' कूर्म आह—'यथाहं भवद्भ्यां सहाकाशवर्त्मना यामि तथा विधीयताम् ।' हंसोऽपि ब्रूतः—'ऋयमुपायः संभवति ?' कच्छपो वदति—'युवाभ्यां चञ्चुभृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनावलम्ब्य गन्तव्यम् । युवयोश्च पक्षवलेन मयापि सुखेन गन्तव्यम् ।'

फिर प्रातःकाल जालसे बँध कर प्रत्युत्पन्नमति अपनेको मरेके समान दिखा ला कर बैठा रहा । फिर जालसे बाहर निकाला हुआ अपनी शक्तिके अनुसार उठल कर गहरे पानीमें घुस गया और यद्भविष्यको धीवरोंने पकड़ लिया और मार डारा । इसलिये मैं कहता हूँ, “अनागतविधाता” इत्यादि—॥ सो मिया प्रकर भ दूमरे सगेवरको पहुँच जाऊ जैसे करो ।' दोनों हंस बोले—'दूमरे पकड़े जानेमें तुम्हारी कुशल है । परंतु पटपटमे तुम्हारे जानेका कौनसा उपाय है ?' कटुजा बोला—'जिस प्रकार मैं तुम्हारे साथ आकाशमार्गसे जाऊँ मैं कथे ?' हंसोंने कहा—'उपाय कैसे हो सकता है ?' कटुजने कहा—'तुम एक एक छक्के टुकड़े छो चोचसे पकड़ लेना और मैं मुन्से पकड़ कर चलाऊँ तो तुम्हारे चोंके पल्ले में मुन्से पहुँच भी जाऊगा ।'

हंसो ब्रूतः—'संभवत्येव उपायः । किंतु,—

इस बोले—'यह उपाय तो हो सकता है । परंतु,—

उपायं चिन्तयन्प्राप्तो उपायमपि चिन्तयेत् ।

पदयतो वक्रमूर्त्तस्य नकुलंभक्षिताः प्रजाः' ॥ ८ ॥

पण्डितको उपाय सोचना चाहिये और विपत्तिका भी विचार करना चाहिये । जैसे मूर्ख बगलेके देखते २ नौले सब बच्चे खा गये' ॥ ८ ॥

कूर्मः पृच्छति—‘कथमेतत्?’ तौ कथयतः—

कछुआ पूछने लगा—‘यह क्या कैसे है?’ वे दोनों कहने लगे ।—

## ॥ कथा ५ ॥

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनासि पर्वते महान्पिप्लवृक्षः । तत्रा-  
कृषका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याधस्ताद्विवरे सर्पो बालाप-  
शानि खादति । अथ शोकार्तानां वकानां विलापं श्रुत्वा केनचि-  
ह्केनाभिहितम्—‘एवं कुरुत । यूयं मत्स्यानुपादाय नकुलवि-  
सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिमेण विकिरत । ततस्तदाहार-  
दुर्धनकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः स्वभावद्वेषाद्यापादयितव्यश्च ।’  
तथानुष्ठिते तद्वचम् । ततस्तत्र वृक्षे न कुलैर्वकशावकरावः श्रुतः ।  
आत्तर्वृक्षमारुह्य वकशावकाः खादिताः । अत आवां ब्रूवः—  
‘उपायं चिन्तयन्’ इत्यादि ॥ आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य  
शोकैः किञ्चिद्वक्तव्यमेव । तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं दास्यसि तदा  
वन्मरणम् । तत्सर्वथात्रैव स्थीयताम् ।’ कूर्मो वदति—‘किमहम-  
गच्छः? नाहमुत्तरं दास्यामि किमपि न वक्तव्यम् । तथानुष्ठिते  
तथाविधं कूर्ममालोक्य सर्वे गोरवकाः पश्चाद्भावन्ति वदन्ति च ।  
अथिद्वदति—‘यद्ययं कूर्मः पतति तदात्रैव पक्त्वा खादितव्यः ।’  
अथिद्वदति—‘अत्रैव दग्ध्वा खादितव्योऽयम् ।’ कथिद्वदति—  
‘गृहं नीत्वा भक्षणीयः’ इति । तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाविष्टो  
वेस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—‘युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम् ।’ इति वद-  
त्रैव पतितस्तैर्व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—‘सुहृदां हितका-  
मानाम्’ इत्यादि ॥’ अथ प्रणिधिर्वकस्तत्रागत्योवाच—‘देव! प्रागेव  
मया निगदितम् । दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति । तच्च युष्मा-  
भेर्न कृतं तदनवधानस्य फलमनुभूतम् । दुर्गदाहो मेघवर्षेण वाय-  
सेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः ।’

उत्तर दिशामें गृध्रकूटक नाम पर्वत पर एक बड़ा पीपलका पेड़ है । उस पर बहुतसे बगले रहते थे । उस वृक्षके नीचे बिलेमें एक सोंप बगलोंके छोटे छोटे भोजको खा लिया करता था । फिर शोकसे व्याकुल बगलोंके बिलापको सुन कर किसी बगलेने कहा—‘ऐसा करो । तुम मछलियोंको ले कर नौलेके बिलेसे सोंपके बिले तक लगातार फैला दो । फिर उनको खानेके लोभी नौले वहाँ जा कर सोंपको देखेंगे और अपने स्वभावके बैरसे उसे मार डालेंगे । ऐसा करने पर वैसा ही हुआ । पीछे उस वृक्षके ऊपर नौलोंने बगलोंके बच्चोंका चटचहाट मुना । फिर

उन्होंने पेड़ पर चढ़ कर बगलोंके बच्चे खा लिये । इसलिये हम दोनों कहते हैं कि  
 “उपायको सोचना चाहिये” इत्यादि । और हम दोनोंसे ले जाते हुए तुमको देव  
 लोग कुछ कहेंगेही । वह सुन कर जो तुम उत्तर दोगे तो तुम मरोगे । इतना  
 चाहे जो कुछ हो यहाँही रहो ।’ कछुआ बोला—‘क्या मैं मूर्ख हूँ ? मैं उत्तर नहीं  
 दूँगा । कुछ न बोलूँगा । और वैसा करने पर कछुआको वैसा देस कर सब ग्राह  
 पीछे दौड़े और कहने लगे कोई कहताभ्या—जो यह कछुआ गिर पड़े तो यह  
 पका कर खा लेना चाहिये । कोई कहता था—यहाँही इसे भून कर खा लें । कोई  
 कोई कहता था कि घर ले चल कर खाना चाहिये । उन सभीका वचन सुन कर  
 कछुआ क्रोधयुक्त हो कर पहले उपदेशको भूल कर बोला—‘तुम सभीमे  
 फौकनी चाहिये ।’ यह कहतेही गिर पड़ा और उन्होंने मार डाला । इसलिये  
 मैं कहता हूँ—“हितकारी मित्रोंका” इत्यादि ।’ फिर दूत बगला वहाँ आ कर  
 बोला—‘हे महाराज ! मैंने तो पहले ही जता दिया था कि गडका सशोधन  
 अवश्य करना चाहिये । और वह आपने नहीं किया इसलिये उस भूतना  
 भुगता । गिद्धके सिखाये भलाये मेघवर्ण कौएने दुर्ग जला दिया ।

राजा निःश्वस्याह,—

‘प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।

स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते’ ॥ ९ ॥

राजाने सास भर कर कहा—जो मनुष्य झेहसे अथवा उपकारसे शत्रुओं पर  
 विश्वास करता है वह सोये हुएके समान वृक्षकी फुनगीसे गिर कर जाग पड़ता है,  
 अर्थात् आपत्तिमें पड़ कर उसे जानता है’ ॥ ९ ॥

प्रणिविदवाच—‘इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णस्तदा  
 चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्—‘अथ मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्ये  
 ऽभिपिच्यताम् ।

दूत बोला—‘यहाँसे गडका दाह करके जब मेघवर्ण गया तब चित्रवर्ण  
 प्रसन्न हो कर कहा—“इस मेघवर्णको इस कर्पूरद्वीपके राज्य पर राजत  
 कर दो ।

तथा चोक्तम्,—

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।

फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चेन्नं प्रदुर्षयेत्’ ॥ १० ॥

जो कदा है—जिन सेवकने कार्य सिद्ध किया है उनके किये  
 के फल नष्ट नहीं करना चाहिये नना पारितोषिकसे, मनसे, वचनसे और  
 उद्वेगसे प्रसन्न करना चाहिये’ ॥ १० ॥

चक्रमाको वृत्ते—‘ततस्ततः ।’ प्रणिविदवाच—‘ततः प्रयाज  
 चित्रा गृत्रेणामिहितम्—‘देव ! नेदमुचितम् । प्रसादान्तर क्रिमि  
 क्रियताम् ।

वदन् वृत्ते लगत्—‘उद्वेगे पीठे त्रि रया टना’ दूत बोला—‘याज्ञिक



मन्त्री गिद्धने कहा—‘महाराज ! यह बात उचित नहीं है, कुछ दूमर  
श्लाघ कीजिये,

वतः,—

अविचारयतो युक्तिकथनं तुपखण्डनम् ।

नीचेपूपकृतं राजन् ! बालुकास्त्रिव मुद्रितम् ॥ ११ ॥

क्योंकि—हे राजन् ! पूर्वापरको नहीं विचारने वालेको उपाय बतलाना मुसीके  
पीसनेके समान बेखारय है और नीचोंमें उपकार करना बुल्लिमें चिह्न करनेके  
प्रमान है, अर्थात् जैसा धुल्लिना चिह्न थोडीसी देरमें मिट जाता है वैसा नीचोंमें  
किया हुआ उपकार और अविचारी पुरुषको उपदेश भी लुप्त हो जाता है ॥११॥

महतामास्पदे नीचः कदापि न कर्तव्यः ।

बड़ोंके स्थान पर नीचको कभी न करना चाहिये । जैसा कहा है—  
तथा चोक्तम्,—

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।

मूपिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १२ ॥

नीच अच्छे पदको पा कर स्वामीको मारना चाहता है, जैसे चूहा व्याघ्रत्वको  
पा कर मुनिको मारने चला' ॥ १२ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ मन्त्री कथयति—

चित्रवर्णं पूछने लगा—‘यह क्या कैसे है ?’ मन्त्री कहने लगा।—

॥ कथा ६ ॥

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र  
तेन मुनिना काकेन नीयमानो मूपिकशावको दृष्टः । ततः  
स्वभावदयात्मना तेन मुनिना नीचारकणैः संवर्धितः । ततो  
विडालस्तं मूपिकं खादितुमुपधावति । तमवलोक्य मूपिक-  
स्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्—‘मूपिक !  
त्वं मार्जारो भव ।’ ततः स विडालः कुकुर दृष्ट्वा पलायते ।  
ततो मुनिनोक्तम्—‘कुकुराद्विभेषि । त्वमेव कुकुरो भव ।’ स  
च कुकुरो व्याघ्राद्विभेषि । ततस्तेन मुनिना कुकुरो व्याघ्रः  
कृतः । अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूपिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं  
मुनिं दृष्ट्वा व्याघ्रं च सर्वे वदन्ति—‘अनेन मुनिना मूपिको व्याघ्रतां  
नीत ।’ एतच्छ्रुत्वा स व्याघ्रोऽचिन्तयत्—‘यावदनेन मुनिना  
स्थातव्यं तावदिदं मे स्वरूपाख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते’  
इत्यालोच्य मूपिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा  
‘पुनर्मूपिको भव’ इत्युक्त्वा मूपिक एव कृतः । अतोऽहं  
प्रवीमि—‘नीचः श्लाघ्यपदं’ इत्यादि ॥

गौतम महर्षिके तपोवनने महातपा नाम एक मुनि या । वही उस मुनिने

१ ‘नीचेपूपकृतं राजन् ! बालुकास्त्रिव मुद्रितम्’ यह भी पाठ प्रचलित है, जिनका  
१५-१७ पर १२ परने उपकार करना तो तत्त्वमुच्य धरि(रेव)ने मूवने समान है’ केना द

कौएसे लये हुए एक चूहेके बच्चेको देखा । फिर स्वभावसे दयामय उस मुनिने तृणके धान्यसे उसको बड़ा किया । फिर विलाव उस चूहेको खानेको देखा उसे देख कर चूहा उस मुनिकी गोदमें चला गया । फिर मुनिने कहा कि-‘इस चूहे ! तू विलाव हो जा ।’ फिर वह विलाव कुत्तेको देस कर भागने लगा । फिर मुनिने कहा-‘तू कुत्तेसे डरता है, जा तू भी कुत्ता हो जा ।’ बाद वह कुत्ता बाघके डरने लगा । फिर उस मुनिने उस कुत्तेको बाघ कर दिया । वह मुनि, उस बाघको “यह तो चूहा है” ऐसे (उसे असली स्वरूपसे) देखता था । उग मुनिने और व्याघ्रको देख कर सब लोग कहा करते थे कि “इस मुनिने इस चूहेको बाघ बना दिया है ।” यह सुन कर वह बाघ सोचने लगा-‘जब तक यह मुनि रहेगा तब तक यह मेरी अपयश करने वाली स्वरूपकी कहानी नहीं मिटेगी ।’ यह विचार कर चूहा उस मुनिको मारनेके लिये चला । फिर मुनिने यह जान कर “फिर चूहा हो जा” यह कह कर चूहाही कर दिया । इसलिये में कहता हूँ— “नीच ऊँचा पद पर” इत्यादि,

अपरं च । सुकरमिदमिति न मन्तव्यम् । शृणु,—

और दूसरे-यह बात सुलभ है ऐसा नहीं जानना चाहिये । सुनिये,—

भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमायममध्यमान् ।

अतिलोभाद्भूः पश्चान्मृतः कर्कटकप्रहात् ॥ १३ ॥

एक बगला बहुतसे बड़े छोटे, और मध्यम मच्छोंको खा कर अधिक लोभसे कर्कटके पङ्कनेसे मारा गया ॥ १३ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—‘कथमेतत्?’ मन्त्री कथयति—

चित्रवर्णं पृष्ठने लगा—‘यह कथा कैसे है?’ मन्त्री कहने लगा ।—

॥ कथा ७ ॥

अस्ति माण्ड्यदेशे पद्मगर्भनामधेयं सरः । तत्रेको वृद्धो यः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः । स च केनसि त्कुलीरेण दृष्टः पृष्ठथ—‘किमिति भवानत्राहारत्यागेन तिष्ठति?’ यन्नोक्तम्—‘मत्स्या मम जीवनहेतवः ते कैवर्तैरागत्य व्यापादयित्वा इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता । अतो वर्तनाभावादेवास्मरणमुपस्थितमिति शत्रुवाहारेऽप्यनादरः कृतः ।’ ततो मत्स्यैः प्रलोचितम्—‘इह समये तावदुपकारकं पत्रायं लक्ष्यते । तदयमेव यथाकृतव्यं पृच्छयताम् ।

समय तो यह उपकार करने वाला ही दीखता है इसलिये इसीसे जो कुछ करना है सो पूछना चाहिये ।

तथा चोक्तम्,—

उपकर्त्रारिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा ।

उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ १४ ॥

जैसा कहा है कि—उपकारी शत्रुके साथ मेल करना चाहिये और अपकारी मित्रके साथ न करना चाहिये, क्योंकि निश्चय करके उपकार और अपकार ही मित्र और शत्रुके लक्षण हैं ॥ १४ ॥

मत्स्या ऊचुः—‘भो वक ! कोऽत्र रक्षणोपायः?’ वको ब्रूते—‘अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम् । तत्राहमेकैकशो युष्मान्न-यामि ।’ मत्स्या आहुः—‘एवमस्तु ।’ ततोऽसौ वकस्तान्मत्स्याने-कैकशो नीत्वा खादति ।’ अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच—‘भो वक ! मामपि तत्र नय ।’ ततो वकोऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान् । कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाकीर्णं तत्स्थल-मालोक्याचिन्तयत्—‘हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । भवतु । इदानीं समयोचितं व्यवहरिष्यामि’ इत्यालोच्य कुलीरस्तस्य ग्रीवां चिच्छेद । स वकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘भक्ष-यित्वा ‘वहून्मत्स्यान्’ इत्यादि ॥’ ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—‘शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितमस्ति ।’ अत्रावस्थितेन मेघवर्णेन राक्षसो यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपने तव्यानि । तेनास्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम् ।’

मच्छ बोले—‘हे वगले ! इममें रक्षाका कौनसा उपाय है ? तव वगला बोला—दूसरे सरोवरका आश्रय ही रक्षाका उपाय है । वहाँ मैं एक एक करके तुम सबको ले कर चलता हूँ ।’ मच्छ बोले—‘अच्छा, ले चलो ।’ पीछे यह वगला उन मच्छोंको एक एक ले जा कर खाने लगा । इमसे पीछे कर्कट उससे बोला—‘हे वगले ! मुझे भी वहाँ ले चलो ।’ फिर अपूर्व कर्कटके मासके लोभी वगलेने आदरसे उसे भी वहाँ ले जा कर पटपड़मे धरा । कर्कट भी मच्छोंकी हड्डियोंसे विछे हुए उस पड़ावको देख कर चिन्ता करने लगा—‘हाय मैं मन्दभागी मारा गया । जो कुछ हो, अब समयको उचित काम करेगा ।’ यह विचार कर कर्कटने उसकी नाइ पाट डाली और वह वगला मर गया । इसलिये मैं कहता हूँ “वहुतसे मच्छोंको खा कर” इत्यादि । फिर चित्रवर्ण बोला—‘हे मन्त्री ! सुनो, मैंने तो यही सोच रक्खा है । वहा बगला हुआ राजा मेघवर्ण जितनी उत्तम वस्तुएँ कर्पूरद्वीपकी हैं उतनी हमारे पास भेटमें लावेगा । उससे हम विन्ध्याचलमें आनन्दसे रहेंगे ।’ दूरदर्शी विद्वत्स्याह—‘देव !

दूरदर्शी हस्त कर बोला—‘हे महाराज !

अनागतवर्तीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।

स तिरस्कारमाप्नोति भयभाण्डो द्विजो यथा’ ॥ १५ ॥

जो नहीं आई हुई चिंताको करके प्रसन्न होता है वह मर्दके बर्तन घेने में  
वाले ब्राह्मणके समान अपमानको पाता है ॥ १५ ॥

राजाह—‘कथमेतत्?’ मन्त्री कथयति—

राजा बोला—‘यह क्या कैसे है?’ मन्त्री कहने लगा ।—

अस्ति देवीकोटनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महा-  
विपुवत्संक्रान्त्यां सकुपूर्णशराव एकः प्राप्तः । तमादायासौ कुम्भ  
कारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाकुलितः सुप्तः । ततः सकु  
रक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाचिन्तयत्—‘यद्यहं सकुशराव  
विक्रीय दश रूपर्दकान्प्राप्स्यामि तदाऽत्रैव तैः कपर्दकैर्घटशराया-  
दिन्नुपनीयानेकधा वृद्धैस्तद्धनैः पुनः पुनः पूगवस्त्रादिरुमुपनीय  
विक्रीय लक्षसंख्यानि धनानि कृत्वा विवाहचतुष्टयं करिष्यामि ।  
अनन्तर तासु सपत्नीषु रूपयौवनवती या तस्यामधिकानुराग  
करिष्यामि । सपत्नयो यदा छन्दं करिष्यन्ति तदा कोपाकुलोऽह  
ता लगुडेन ताडयिष्यामि’ इत्यभिवाय लगुडः क्षिप्तः । तेन सकु-  
शरावर्णतो भाण्डानि च बहूनि भण्डानि । ततस्तेन शब्देनाग-  
तेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य ब्राह्मणस्तिर-  
स्कृतो मण्डपाद्गृहिः कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—“अनागतवर्ती  
निन्वाम्” इत्यादि ॥’ ततो राजा रहसि गृध्रमुनाच—‘तात! यथा  
कर्तव्यं तयोपदिश ।’

गृध्रो ब्रूते,—

‘मदोद्धतस्य नृपतेः संकीर्णस्येव दन्तिनः ।

गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ १६ ॥

निद्ध बोला—‘कुमार्गमें जाने वाले अर्थात् अनुचित काम करने वाले अभिमानी राजाके मंत्री लोग, कुमार्गमें जाने वाले तथा मत वाले हाथीवानोंके समान, निश्चय करके निन्दाको पाते हैं ॥ १६ ॥

शृणु देव ! किमस्माभिर्वलदर्पाद्दुर्गं भग्नम् ? न । किंतु तव प्रतापाधिष्ठितेनोपायेन ।’ राजाह—‘भवतामुपायेन ?’ गृध्रो ब्रूते—‘यद्यत्सद्वचनं क्रियते तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनर्विग्रहे सत्यस्पाकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । सुखशोभार्थं संधाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं कीर्तिश्च लब्धैव । मम संमतं तावदेतत् ।

सुनिये महाराज ! क्या हमने बलके घमडसे गढ़ तोड़ा है ? यह बात नहीं है । परन्तु आपके प्रतापसे निश्चित किये उपायसे तोड़ा है ।’ राजा बोला—‘तुम्हारे उपायसे टूटा है ?’ निद्ध बोला—‘जो मेरा कहना करो तो अपने देशमें चले चलो । नहीं तो वर्षा आने पर फिर लड़ाई होनेमें, पराई भूमिमें रहने वाले हम लोगोंका अपने देशको जाना भी कठिन होगा । इसलिये सुख और शोभाके लिये मेल करके चलिये, गढ़ टूट गया और यश भी मिला । मेरी तो यह समति है ।

यतः,—

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।

अप्रियाण्याह तथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

क्योंकि—जो मनुष्य धर्मको आगे करके स्वामीके प्रिय और अप्रियको छोड़ कर अप्रिय भी चल्य कहता है उससे राजाको सहारा होता है, अर्थात् कटु भले होय, सच्चा और योग्य सलाह देने वालाही मंत्री राजाका सचमुच सहायकर्ता होता है ॥ १७ ॥

अन्यच्च,—

सुदृढलं तथा राज्यमात्मानं कीर्तिमेव च ।

युधि संदेहदोलास्थं को हि कुर्यादवालिशः ॥ १८ ॥

दूसरे—और वौनसा बुद्धिमान् मित्रकी सेनाको, राज्यको, अपनेको, और कीर्तिको सभ्रानके संदेहरूपी हिरोलेने झुलावेगा अर्थात् सकटमें गिरा देगा ॥ १८ ॥

उपर च,—

सधिमिच्छेत्समेनापि संदिग्धो विजयो युधि ।

सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम् ? ॥ १९ ॥

और समानके साथ भी मेल करनेकी इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि युद्धमें विजयका संदेह है । जैसे समान बल वाले सुन्द और उपसुन्द आपसमें क्या नष्ट नहीं हो गये ? ॥ १९ ॥

राजोवाच—‘कथमेतत् ?’ मन्त्री कथयति—

राजा बोला—‘यह क्या बतते हैं ?’ मन्त्री कहने लगा ।—

## ॥ कथा ९ ॥

पुरा दैत्यौ महोदारौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता क्रुशेन त्रैलो-  
क्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ । ततस्तयोर्भगवा-  
न्परितुष्टः 'वरं वरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः समाधिष्टि-  
तया सरस्वत्या तावन्यद्वकुकामावन्यदभिहितवन्तौ । यद्यावयोर्भ-  
वान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु । अथ भगवता  
क्रुद्धेन वरदानस्यावश्यकतया विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता ।  
ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां जगद्धातिभ्यां मनसोत्सुकाभ्यां  
पापतिमिराभ्यां ममेत्यन्योन्यकलहाभ्यां प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृ-  
च्छयतामिति मतौ कृतायां स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समा-  
गत्य तत्रोपस्थितः । अनन्तरम् 'आवाभ्यामियं स्ववललब्धा,  
कस्येयमावयोर्भवति?' इति ब्राह्मणमपृच्छताम् ।

पढ़ते वड़े उदार मुन्द और उपसुन्द नाम दो दैत्योंने बड़े क्रुशसे तीनों  
लोकों की इच्छासे बहुत काल तक महादेवजीकी आराधना की। फिर उन दोनों पर  
भगवान्ने प्रमत्त हो कर यह कहा कि "वर माँगो"। फिर हृदयमें स्थित सर-  
स्वतीसे प्रेरणासे ये दोनों, कहना तो कुछही चाहते थे और कुछका कुछ कह  
दिये कि जो इन दोनों पर भगवान् प्रमत्त ह तो परमेश्वर अपनी प्रिया पार्वि-  
तीसे द। पीछे भगवान्ने होवसे वरदान देने की आवश्यकतासे उन विचारहीन  
नू। दो पार्वतीसे दे की। तब उनके रूप और सुन्दरतासे लुभाये समारके  
न प करन गले, मनमें उत्कण्ठित, कामसे अथे तथा 'यह मेरी है मेरी है' ऐसा  
जापमान समझा करते वाले इन दोनोंकी "किसी निर्णय करने वाले पुरुषसे पूछना  
चाहिए" ऐसी मुद्द करने पर बड़ी ईश्वर वृद्ध ब्राह्मणके वेपसे आ कर वदा ३०  
। उन पुण। पीछे, हम दोनोंने अपने कलसे इनको पाया है, 'हम दोनोंमेंसे एक  
दूसरेसे'—यह ब्राह्मणसे पूछा।

मावयो मृते,—

'वयोश्चेष्टो द्विजः पूज्यः शत्रियो बलवानपि ।

वनवान्याविको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेनया ॥ २० ॥

मावयो मृते—'वयोश्चेष्टो द्विजेने ब्राह्मण, वयोश्चेष्टो शत्रिय, जति ॥ १० ॥  
वनवान्याविको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेनया ॥ २० ॥  
न्युक्तः शत्रुवन्मनुजो । युद्ध एव युवयोर्नियमः ।' इत्यभिहिते सति  
'चा मृत्तनेन' इति कृत्यान्योन्यतुल्यधीरौ सम कालमन्योन्यपातेन  
विकारानुभवतौ । ततोऽहं व्रवीमि—'सत्रिमिच्छस्यमेनापि'  
इत्यदि ॥ यथाह—'शत्रोश्च नोक्तं मरुद्भिः' मन्त्री मृते—  
'नृशत्रुं क्षिप्रवसानस्यन्तं क्षुत्तं मरुद्भिः' तदापि मम समान  
वयो विद्वद्वारम्भे सापुगुणयुक्तोऽयं हरष्यममो न विप्रात्तः ।

गिद्ध बोला—‘इसलिये तुम दोनों क्षत्रिधर्म पर चलने वाले हो । तुम दोनोंका युद्ध ही नियम है । ऐसा कहते ही “यह इसने अच्छा कहा” यह कह कर समान बल वाले वे दोनों एक ही समय आपसमें लड़ कर मर गये । इसलिये मैं कहता हूँ—“समान बल वाले के साथ भी सधि करनी चाहिये” इत्यादि ।’ राजा बोला—‘तुमने पहलेही क्यों नहीं कहा?’ मंत्रीने कहा—‘क्या मेरी बात आपने अत तक सुनी थी? तोभी मेरी समतिसे यह युद्ध आरंभ नहीं हुआ है । सुन्दर गुणोंसे युक्त यह हिरण्यगर्भ विरोध करनेके योग्य नहीं है ।

गृध्रो ब्रूते,—

सत्यायौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान्वली ।

अनेकयुद्धविजयी संधेयाः सप्त कीर्तिताः ॥ २१ ॥

जैसा कहा है—‘सत्य बोलने वाला, सज्जन, धर्मशील, दुर्जन, अधिक भाई-बन्धु वाला, शूरवीर और अनेक सम्रामोंमें जय पाने वाला ये सात मनुष्य सन्धि करनेके योग्य कहे गये हैं ॥ २१ ॥

‘सत्योऽनुपालयेत्सत्यं संधितो नैति विक्रियाम् ।

प्राणवाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥ २२ ॥

सत्यभाषी सत्यके अनुसार सधि करके विश्वासघात नहीं करता है, और सज्जन प्राण जाने पर भी प्रत्यक्षमें नीचता नहीं करता है ॥ २२ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।

प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ २३ ॥

शत्रुओंसे घिरे हुए धार्मिकके सभी अनुकूल होते हैं इसलिये धर्मसे तथा प्रजाके अनुरागसे धार्मिक राजा दुःखसे जीतनेके योग्य होता है ॥ २३ ॥

संधिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।

विना तस्याश्रयेणार्यः कुर्यान्न कालयापनम् ॥ २४ ॥

विनाश उपस्थित होने पर दुष्टके साथ भी मेल कर लेना चाहिये और उसके आश्रयके विना सज्जनको कालयापन(समय काटना) नहीं करना चाहिये ॥२४॥

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निविडैः कण्टकैर्वृतः ।

न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवास्तथा ॥ २५ ॥

और जैसे बहुतसे काँटोंसे लदा हुआ बाँस आपसमें मिले रहनेसे नहीं कट सकता है वैसे ही भाई-बन्धुओंसे मिला हुआ पुरुष भी नष्ट नहीं हो सकता है ॥२५॥

वल्लिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।

प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २६ ॥

बली शत्रुके साथ युद्ध करना चाहिये ऐसा उदाहरण नहीं है, क्योंकि बादल पत्तोंके प्रतिकूल कभी नहीं चलता है, अर्थात् जिधरसे पवन जाती है उधरसे ही चलता है ॥ २६ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ २७ ॥

और जमदग्नि के पुत्र अर्थात् परशुराम के समान अनेक युद्धों में जीतने वाले राजा के प्रताप से बहुत से सप्रायों में सब मनुष्य सब स्थानों में सब काल में अपने राजा को अधिकार में कर लेते हैं ॥ २७ ॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति ।

तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ २८ ॥

अनेक सत्रानों में जीतने वाला मनुष्य जिस राजा से मेल कर लेता है तो उसके प्रताप से (जिसके साथ संधि की है) उसके शत्रु शीघ्र वश में आ जाते हैं ॥ २८ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः संघेयोऽयं राजा । चक्रवाकोऽवदत्  
'प्रणिधे ! सर्वत्रावत्रज । सर्वमवगतम् । गत्वा पुनरागमिष्यसि  
राजा चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्विन् ! असंघेयाः कति ताञ्छे  
मिच्छामि ।'

शक्ति से अनेक गुणों से युक्त यह राजा मेल करने के योग्य है ।' चक्रवाक ने कहा—'हे हूत ! सब स्थानों में जा, तुमने सब समझ लिया है, और जा हर जगह आइयो ।' राजाने चक्रवाक से पूछा—'हे मन्वी ! कितने मनुष्य संधि भर लोग नहीं हूँ, उन्हें मुना चाहता हूँ ।'

मन्वी ने—'देव ! कथयामि । शृणु,—

मर्त्यो मोग्र-मशया । हृदता हू गुणिये—

शालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा शक्तिवहिष्कृतः ।

भीयते भीरुजनको लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ २९ ॥

मर्त्य, मोग्र, मशया, मशया रोगी और शक्ति वही भूक्त है, शालो, वृद्ध, दीर्घरोगी और शक्ति वही भूक्त है, भीयते, भीरुजनको लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ २९ ॥

विष्कृतप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।

अज्ञेयचित्तमन्वस्तु देवत्रात्मणनिन्दकः ॥ ३० ॥



राजाने 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर विचित्र नाम बगलेको गुप्त चिट्ठो देकर सिंहलद्वीपको भेज दिया ।

अथ युधिष्ठिरागत्योवाच—'देव ! श्रूयतां तत्रत्यप्रस्तावः । एव तत्र गृध्रेणोक्तम्—'देव ! यन्मेघवर्णस्तत्र चिरमुपितः स वेत्ति किं संघेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो न वा ?' इति । ततोऽसौ राजा स्वमाह्वय पृष्टः—'वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भः ? चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः ?' वायस उवाच—'देव ! हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः । चक्रवाकसमो मन्त्री न काप्यवलो ज्यते ।' राजाह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ?'

फिर दूतने आ कर कहा—'महाराज ! वहाँका समाचार सुनिये । वहाँ गिद्धने जो कहा है कि हे महाराज ! मेघवर्ण का कौ जो वहाँ बहुत दिनों तक रहा आ वह जानता है कि हिरण्यगर्भ मिलापके योग्य गुणोंसे युक्त है या नहीं।' फिर राजाने उसे उला कर पूछा—'हे कोए ! वह हिरण्यगर्भ कैसा है ?' वा चक्रवा मन्त्री भेगा दे । दूतने उत्तर दिया—'महाराज ! राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिरके समान सज्ज है, चक्रवर्ते ममान मन्त्री कहीं भी नहीं बीरता है ।' राजा बोला—'जोग्याही दे । तो तूने उसे कैसे ठग लिया ?'

विदस्य मेघवर्णः प्राह—'देव !

नेव राजाने देव हर कृत—'महाराज !

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ।

अहमाकृत्य मुत्तं हि हृत्वा कि नाम पोरुपम् ॥ ५१ ॥

जो राजा दूतने जाके मनुष्याओ ठगनेमा गया चतुराई है । जैसे गोदम लेउ कर । इ दुइयो मार कर मया पुरुपाय दे । अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥ ५१ ॥  
शुभु देव ! तेन मन्त्रिणाह प्रथमदर्शन एव ज्ञातः । किंतु महाशयो  
इहा राजा । तेन मया विप्रलब्धः ।

दूतने मन्त्रिया । उन मन्त्रीने पहले देखते ही मुझे जान लिया था, परन्तु  
इहा राजा मन्त्रियनन दे इगलये मेरी ठगाईम आ गया,  
इया वोक्तम्—

मतिप्रकर्षो भवतीति समालोच्य वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्यागमनं प्रतीक्ष्य पथि स्थिताः । तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—‘भो ब्राह्मण ! किमिति कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते ?’ विप्रेणोक्तम्—‘नायं श्वा कितु यज्ञच्छागः ।’ अथानन्तरस्थितेनान्येन धूर्तेन तथैवोक्तम् । तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय मुहुर्निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा दीलायमानमतिश्चलितः ।

गौतमके वनमें किसी ब्राह्मणने यज्ञ करना आरम्भ किया था । और उसको यज्ञके लिये दूसरे गाँवसे बकरा मोल ले कर कंधे पर रख कर ले जाते हुए तीन ठगोंने देखा । फिर उन ठगोंने “यह बकरा किसी उपायसे मिल जाय तो बुद्धिहीन चालाकी बड़ जाय” यह विचार कर तीनों तीन वृक्षोंके नीचे, एक एक कोसके अन्तरसे, उस ब्राह्मणके आनेकी वाट देख कर मार्गमें बैठ गये । वहाँ एक धूर्तने जा कर उस ब्राह्मणसे कहा—‘हे ब्राह्मण ! यह क्या बात है कि कुत्ता कंधे पर लिये जाते हो ?’ ब्राह्मणने कहा,—‘यह कुत्ता नहीं है, यज्ञका बकरा है ।’ फिर इससे आगे बैठे हुए दूसरे धूर्तने वैसे ही कहा । यह सुन कर ब्राह्मण बकरेको बरनी पर रख कर बार बार देख फिर कंधे पर रख कर चलायमान चित्त-सा हो कर चलने लगा ।

यतः,—

मतिर्दीलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः ।

ताभिर्विश्वासितश्चासौ म्रियते चित्रकर्णवत् ॥ ५३ ॥

क्योंकि—सज्जनोंकी भी बुद्धि दुष्टोंके बचनोंसे सचमुच चलायमान हो जाती है—जैसे दुष्टोंकी बातोंसे विश्वासमें आ कर यह ब्राह्मण चित्रकर्णनामक ऊँटके समान भरता है ॥ ५३ ॥

राजाह—‘कथमेतत् ?’ स कथयति—

राजा बोला—‘यह क्या कैसे है ?’ वह कहने लगा ।—

॥ कथा ११ ॥

अस्ति कांसिश्चिद्दनोदेशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य सेवकास्त्रयः काको व्याघ्रो जम्बुकश्च । अथ तैर्धर्मद्विः कश्चिदुष्टो दृष्टः पृष्टश्च—‘कुतो भवानागतः सार्थाद्भृष्टः ?’ स चात्मवृत्तान्तमकथयत् । ततस्तैर्नोत्वा सिंहेऽसौ समर्पितः । तेनाभयवाचं दत्त्वा चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः । अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भ्रूवृष्टिकारणाच्चाहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः । ततस्तैरालोचितम्—‘चित्रकर्णमेव यथा स्वामी व्यापादयति तथानुष्ठीयताम् । किमनेन कण्टकभुजा ?’ व्याघ्र उवाच—‘स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वानुगृहीतस्तत्कथमेवं संभवति ?’ काको ब्रूते—‘इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति ।

किसी वनमें मदोत्कट नाम सिंह रहता था । उसके कण, बाघ और चित्तार

तीन सेवक थे । पीछे उन्होंने घूमते घूमते किसी ऊँटको देखा और पूछा—'तुम चायियोंसे विछट कर कहाँसे आये हो ?' फिर उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया । तब उन्होंने उसे ले जा कर सिंहेको सौंप दिया । उसने अभय-वचन दे कर उसका चित्रकर्म नान रख कर रख लिया । बाद एक दिन वे सिंहेके शरीरके खेद तथा वर्णके चारा भोजनको न पा कर दुखी होने लगे । फिर उन्होंने विचारा जिनमें चित्रकर्मको ही स्वामी मारे सो उपाय करो । इस काँटे चरने वालेसे क्या है ?' बाप बोला—'स्वामीने उसे अभय-वचन दे कर रक्ता है इसलिये ऐसा कैसे हो सकता है ?' जाग बोला—'इस समय भूतसे घबराया हुआ स्वामी ( सिंहा ) पाप भी करेगा ।

यतः,—

त्यजेत्शुघार्ता महिला स्वपुत्रं

खादेत्शुघार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।

बुभुक्षितः किं न करोति पापं

शीघ्रं नरा निष्कृषणा भवन्ति ॥ ५४ ॥

उत्तर—भूती स्त्री अपने पुत्रको छोड़ देती है, भूखी नागन अपने जड़ेको खा देती है, और भूखा क्या क्या पाप नहीं करता है ? क्योंकि शीघ्र मनुष्य कृष्णात्न हो ट, अर्थात् भूख और बुझापेसे शीघ्र यह सिंहा द्वापरदिन में जायगा ॥ ५४ ॥

अन्वय,—

मनः प्रमत्तघोमत्तः श्रान्तः कुतो बुभुक्षितः ।

शुभो भीक्षुस्तारायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित् ॥ ५५ ॥

नोर सुख-नारादा, अयमर्थ, जन्मत, यका हुआ, क्रोधित, भूखा, लोभी, ५५५, ५५५ नारा दखन मन्त्र, और कामी ये धर्मके जानने वाले नहीं होते ॥ ५५ ॥

इति सचिन्त्य सर्वे निश्चिन्तितं जग्मुः । सिंहेनोक्तम्—'आदायं किञ्चि प्राप्तम् ?' वेदकम्—'यथादपि न प्राप्तं किञ्चित् ।' सिंहेनोक्तम्—'हो. तुमा जा गोपायः ?' हाको वदति—'देव ! आधी-नादायपरि यथागत्येनाशोऽयमुपस्थितः ।' सिंहेनोक्तम्—'नरा दारः कः नार्थिनः ?' हाको कर्णं हययति—'विचक्षणः' इति । सिंहेनोक्तम्—'नृणां कर्णं हययति । नमयत्राचं दत्त्वा तुतोऽयम-जायि । तं कः समं संनयति ?

कथं शत्रुमध्ये त्वया चिरमुपितम्? कथं वा तेषामनुनयः इत  
मेघवर्ण उवाच—‘देव ! स्वामिकार्यार्थिना स्वप्रयोजनवशात्  
न क्रियते ?

सिंहने कहा—‘मरना भला है पर ऐसे काममें मन चलाना अच्छा नहीं  
निगारने भी वही कहा। फिर सिंहने कहा—‘ऐसा कभी नहीं।’ फिर बाघने क  
‘मिरे शरीरसे खानी प्राण-रक्षण करें।’ सिंहने कहा कि—‘यह भी कभी उ  
नहीं है।’ पीछे चित्रकर्णने भी विधासके मारे वैसे ही अपने को दान देने के  
च्छ। फिर उसके कहेसे उस बाघने क्रोधको फाड़कर उसे मार डाला और स  
ना लिया। इसलिये मैं कहता हूँ कि “बुद्धि सचमुच चलायमान ही  
है इत्यादि। फिर तीसरे धूर्तकी बात सुन कर अपने बुद्धिके भ्रम को मि  
करके चकरेते छोड़ कर प्राणनहा कर घर गया। उन धूर्तोंने उस चकरेके उ  
कर जा दिया। इसलिये मैं कहता हूँ—“जो अपने समान (ओरोको) जानता  
इत्यादि।’ राजा बोला—‘हे मेघवर्ण ! शत्रुओंके बीचमें इतने दिन तक त  
रक्ष’ अता कने उन्होंने विनती करी ?’ मेघवर्णने कहा—‘महाराज ! साम  
न करने जाते, अता अपने प्रयोजनके लिये, क्या नहीं करना पड़ा है  
परम,—

जो को वदति कि राजश मूर्धा दग्धुमिन्धनम् ।

सात्यजपि पृथार्ङ्गि नदीवेगो निरुन्तति ॥ ५९ ॥

रे म—मृग, जानके लिये शक को क्या खिर पर नहीं उठाते हैं।  
जो म म इतके मग मीर मीर मोता हुआ भी उरान देता है ॥ ५९  
मदर योक्तम्,—

डन्यः पृथिव्यां लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे  
वास्तत्रागत्योपविष्टाः ।

६ पुराने उपवनमें मदविष नाम सर्प रहता था । वह अधिक बूढा होनेसे  
[ भी हँडनेके लिये असमर्थ हो सरोवरके किनारे पर लटक कर बैठा था ।  
दूसरे किसी मैडकने देखा, और पूछा—क्या बात है जो तुम भोजनको नहीं  
हो ?' सर्पने कहा—'हे मित्र ! जाओ, मुझ भाग्यहीनका क्या पूछना है ?'  
आश्चर्ययुक्त हो कर उस मैडकने यह कहा कि 'अवश्य ही कहो ।' सर्पने कहा—  
त्र ! ब्रह्मपुरके निवासी कौण्डिन्य नाम वेदपाठीके सब गुणोंसे युक्त वीस  
५ पुत्रको दुर्भाग्य और दुष्ट स्वभावसे मैंने डस लिया । तब उस सुशील  
पुत्रको मरा हुआ देख कर कौण्डिन्य पछाड खा कर धरतीमें गिर पडा !  
सब ब्रह्मपुरवासी वान्धव वहाँ आ कर बैठे ।

चोक्तम्,—

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स वान्धवः' ॥ ६१ ॥

आ कहा है—विवाह आदि उत्सवमें, दु खमें, सग्राममें, अकालमें, राज्यके  
में, राजद्वारमें और श्मशानमें जो साथ रहता है वह सच्चा वान्धव है' ॥

कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य ! मूढोऽसि ।  
विलपसि ?

हैं एक कपिल नाम भिक्षुने कहा—'अरे कौण्डिन्य ! तुम मूर्ख हो इसीसे  
करते हो ? सुनो—

ऋणु,—

क्रोडीकरोति प्रथमं यथा जातमनित्यता ।

धात्रीव जननी पश्चात्तथा शोकस्य कः क्रमः ॥ ६२ ॥

से पहले प्राणीके उत्पन्न होते ही, अनित्यता ग्रहण करती है, वैसे ही पीछे  
के समान माता गोदमें खिलाती है, इसलिये इसमें शोककी वानसी बात  
॥ ६२ ॥

क गताः पृथिवीपालाः ससैन्यवलवाहनाः ।

वियोगसाक्षिणी येषा भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६३ ॥

नाके चतुरंग बल तथा द्वायी, घोड़े इत्यादिते युक्त राजा कहीं गये कि  
की वियोगवी साक्षी देने वाली पृथ्वी आज तक वर्तमान है ॥ ६३ ॥

ए च,—

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।

समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ ६४ ॥

शरीर दूसरे—शरीरके संग नाश है, संपत्तियाँ विपत्तियोंका स्थान ह, समागमके  
वियोग है, और तब उत्पन्न होने वाली वस्तु नाश होने वाली है ॥ ६४ ॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।

आमकुम्भ इवाम्भस्थो विशीर्णः सन्विनाव्यते ॥ ६५ ॥

यानेव रात्रि प्रथमामुपैति  
गर्भे निवासी नरवीरलोकः ।

ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः

स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ ८० ॥ ✓

बौर पुढन खिन्न पहली रातको गर्भमे आता है उसी दिनते निरतर गलेदे  
वह नित्य मृत्युके पास सरकता जाता है ॥ ८० ॥

अतः संसार विचारयः । शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः ।

इतल्लेपे संसारको विचारो । यह शोक अज्ञानका पातल है ।

पदम्,—

अज्ञानं कारणं न स्याद्वियोगो यदि कारणम् ।

शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्धतामपयाति किम् ॥ ८१ ॥

शेरो,—जो वियोगही दुःखका कारण होता ओर अज्ञान कारण नहीं होता  
तो दिनपरदिन शोक बढ़ता चाहिये ना, फिर भला घटता क्यों जाता है !  
इतल्लेपे अज्ञान ही शोकका कारण है ॥ ८१ ॥

अज्ञानानमनुसंवेदि । शोकनचां परिहर ।

इसके अज्ञानको धियर करो, शोकही चर्वाको दूर करो,

पदम्,—

क्योंकि-किसी आश्रममें अनुरक्त होय, दुखी हो कर भी धर्मका आचरण  
रे और सब प्राणियोंमें समान ज्ञेह रखे, क्योंकि सिर मुंडा कर गेरुए कपड़े  
दि धारण बगेरह चिन्हही धर्मका कारण नहीं है ॥ ८४ ॥

क च,—

वृत्त्यर्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।

वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥ ८५ ॥

औरभी कहा है—जिन मनुष्योंका केवल आजीविकाके लियेही भोजन  
, सतान उत्पन्न करनेके लियेही मैथुन है और सत्य वचन बोलनेके लियेही  
णा है वे कठिन स्थानोंसेभी पार हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

या हि,—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था

सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !

न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ ८६ ॥

जैसा कहा है कि—हे युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंका सयमन (रोकना)ही जिसका  
वतीर्थ है, सत्यही जिसका जल है, शील जिसका किनारा है और दयाही जिसमें  
रर्योंकी माला है, ऐसी आत्मारूपी नदीमें स्नान कर, क्योंकि केवल पानीसेही  
रकी आत्मा शुद्ध नहीं होती है ॥ ८६ ॥

शेषतश्च,—

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरुपद्रुतम् ।

संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम् ॥ ८७ ॥

और विशेष करके जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और शोक इनसे भरे हुए  
जन्त असार इस संसारको छोड़ देने वाले मनुष्यको सुख है ॥ ८७ ॥

तः,—

दुःखमेवास्ति न सुखं यस्माद्यदुपलक्ष्यते ।

दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ॥ ८८ ॥

क्योंकि—इस संसारमें दु खही दु ख है सुख नहीं है कि जिस दु खसे बह  
अभी अनुभव होता है, क्योंकि दु खसे पीडित मनुष्यके दु ख दूर होने पर  
ह दु खही सुख कहाता है ॥ ८८ ॥

होण्डिण्यो वृत्ते—‘एवमेव ।’ ततोऽहं तेन शोकाकुलेन ब्राह्मणेन  
गतः—‘यद्धारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि’ इति । कपिलो  
श्लो—‘संप्रत्युपदेशासद्विष्णुर्भवान् । शोकाविष्टं ते हृदयम् ।

कोन्य बोला कि—‘ऐसेही है ॥’ तब उस शोकसे व्याकुल ब्राह्मणने मुझे  
काप दिया—‘आजसे ले कर तू नेदकोंका वाहन होगा ।’ कपिल बोला—‘तुम अपनी

को खालो ।' फिर "यह महाप्रमाद मैंने ग्रहण किया" यह कह कर उसने क्रमसे मेढकोंको खाने लगा । फिर मेढकोंसे खाली सरोवरको देख कर मेढ-  
 के राजाकोभी खा लिया इसलिये मैं कहता हूँ, "शत्रुओंकोभी कधे पर चढावे'  
 ही हे महाराज ! पहले वृत्तान्तके कहनेको अब रहने दीजिए सब प्रकारसे  
 ह हिरण्यगर्भ राजा मन्धि करने योग्य है इसलिए मेरी समझमें तो मन्धि  
 र लीजिये' राजाने कहा—'यह तुम्हारा कैसा विचार है ? क्योंकि इसको तो  
 म जीत चुके हैं, फिर जो वह हमारी सेवाके लिये रहे तो भलेही रहे नहीं  
 ही युद्ध किया जाय

अत्रान्तरे जम्बुद्वीपादागत्य शुकेनोक्तम्—'देव ! सिंहलद्वीपस्य  
 ॥ शरसो राजा संप्रति जम्बुद्वीपमाक्रम्यावतिष्ठते ।' राजा ससभ्रमं  
 ॥ ११ ॥ 'किं किम् ?' शुकः पूर्वोक्तं कथयति । गृध्रः स्वगतमुवाच—  
 ॥ साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् सर्वज्ञ ! साधु साधु ।' राजा सक्रोप-

गह—'आस्ता तावदयम् । गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि ।'  
 इसी अवसरमें जम्बुद्वीपसे आ कर तोतेने कहा—'महाराज ! सिंहलद्वीपका  
 राजा राजा अब जम्बुद्वीपको घेरे हुये टटा हुआ है ।' राजा घबरा मर बोला—'क्या  
 का' तोतेने पहिली बात दुहरा कर कही । निद्धनं अपने मनमें सोचा कि 'वन्ध  
 ॥ अरे चक्रवे मंत्री सर्वज्ञ ! तुझे वन्ध है, धन्य है ।' राजा झुझला कर  
 ॥ १२ ॥ 'इत्थे तो रहने दो । मैं जा कर उलीको जड़से नाश करूंगा'

दूरदर्शी विहस्याह—  
 'न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम् ।  
 परस्वार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान् ॥ ९१ ॥

दूरदर्शी हँस कर बोला—'शरद्वक्रतुके मेघके नमान ट्टया गभीर गर्जना नहीं  
 चाहिये, बडे पुरुष शत्रुके अर्थको अथवा अनर्थको प्रकट नहीं करते हैं ॥ ९१ ॥

अपर च,—  
 एकदा न विगृहीयाद्बहुराजाभिघातिन ।  
 सदपोऽप्युरगः कीटैर्वृत्तुभिर्नाश्यते ध्रुवम् ॥ ९२ ॥

और दूसरे—राजा एकही समय पर बहुतसे शत्रुओंसे नहीं लटे, क्योंकि,  
 शरकारी सर्पकोभी निश्चय बरखे बहुतसी (छुद्र) चींटिया मार डालती ह ॥ ९२ ॥  
 देव ! किमिति विना संधान गमनमस्ति ? यतस्तदास्तपश्चात्प्र-  
 सोपोऽनेन कर्तव्यः ।

हे महाराज ! विना मेल किये कैसे जाते हो ? क्योंकि फिर हमारे जानैक  
 ॥ ९३ ॥ द दह परा शोप करेगा

अपर च,—  
 योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय प्रोथस्यैव वशं गत ।  
 स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नमुलाद्यथा ॥ ९३ ॥

उत्तरा  
 विना  
 ननु  
 विना



मौल ब्राह्मणको आता देख लोहूसे लिहसे हुए सुख तथा पैर किये शीघ्र पास आकर उसके चरणों पर लोट गया. फिर उस ब्राह्मणने उसे वैसा देख कर "इसने शकक्रो खा लिया है" ऐसा समझ कर नौलेको मार डाला. पीछे ब्राह्मणने जो शकक्रके पाम आ कर देखा तो बालक अच्छा है और सर्प मरा हुआ पड़ा है। फिर उस उपकारी नौलेको देख कर मनमे धवरा कर बड़ा दु खी हुआ इसलिये मैं कहता हू, "जो वातके भेदको न जान कर" इत्यादि.

मपर च,—

कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा ।

पद्मर्गमुत्सृजेदेनमस्मिस्त्यक्ते सुखी नृपः' ॥ ९५ ॥

और दूसरे—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार, तथा मद इन छ बातोंको जेद देना चाहिये, और इनके त्यागनेसे राजा सुखी होता है' ॥ ९५ ॥

राजाह—'मन्त्रिन् ! एप ते निश्चयः?' मन्त्री ब्रूते—'एवमेव ।

राजा बोला—'हे मन्त्री ! यह तेरा निश्चय है? मन्त्रीने कहा—'हां, ऐसाही है.

एतः,—

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।

दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ ९६ ॥

क्योंकि—धर्मके तत्त्वोंमें स्मरण, विवेक, बुद्धिकी स्थिरता, दृढता, और मन्त्रको ज्ञान रखना ये मन्त्रोंके मुख्य गुण हैं ॥ ९६ ॥

तथा च,—

सहसा विदधीत न क्रिया-

मविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं

गुणलुब्धा. स्वयमेव संपदः ॥ ९७ ॥

औरभी कहा है—एकएक बिना विचारे कोई काम न करना चाहिये, क्योंकि अविवेक याने विवेकवा न होना आपत्तियोंका मुख्य स्थान है. और गुणको चाहने वाली सपत्तिया विचार कर करने वाले(सदसद्विवेकी पुरुष)के पास आपसे आप चली आती हैं ॥ ९७ ॥

तदेव ! यदिदानीमसद्भवनं क्रियते तदा संघाय गम्यताम् ।  
इसलिये हे महाराज ! जो अब मेरी बात मानो तो मेल करके चलिये ।

एतः,—

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।

सख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता' ॥ ९८ ॥

क्योंकि—यद्यपि मनोरथके सिद्ध करनेमें चार उपाय ( साम, दान, दंड और भेद ) दहे ह तथापि उन उपायोंका फल, क्षेत्रल गिनतीही है परन्तु कार्यका साधन नैरत्न रहता है, अर्थात् नैरत्नही कार्य बन जाता है ॥ ९८ ॥

संधि: १०१-१०४ ] भापाटीकासमलंकृत ।

दूरदर्शी बड़ा सज्जन है । अथवा ऐसा मन्दबुद्धियोंका नियम है कि कमी तो  
 शका नहीं करते हैं, कमी सर्वत्र शका करते हैं ।

तथा हि,—

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः  
 कुमुदविटपान्वेपी हंसो निशाखविचक्षणः ।

न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं  
 कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥ १०१ ॥

कुमुदिनीको इढ़ने वाला चतुर हंस रातको सरोवरमे बहुतसे तारोंकी परछा-  
 इसे क्षणभर ठगा हुआ (अर्थात् तारोंकी परछाईको कुमुदिनी जान कर) दिनमेंभी  
 तारोंकी शकासे फिर धेतकमलोंको नहीं लेता है, जैसे छलसे छला गया ससार  
 चलनेंभी बुराईकी शका करता है ॥ १०१ ॥

दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः ।  
 बालः पायसदग्धो दध्यपि फूट्कृत्य भक्षयति ॥ १०२ ॥

दुष्टोंसे छले हुए चित्त वाले मनुष्यका सज्जनोंमेंभी विश्वास नहीं रहता है ।  
 जैसे क्षीरसे जला हुआ बालक दहीकोभी सचमुच फूक फूक कर खाता है ॥ १०२ ॥

तद्देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसजीक्रिय-  
 ताम् ।' तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोप-  
 नम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः । चक्र-  
 वाक उवाच—'गुप्सदायत्तं सर्वम् । स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं  
 राज्यम् ।' राजहंसो ब्रूते—'एवमेव ।' दूरदर्शी कथयति—'एवमे-  
 वैतत् । कित्तिवदानी बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम् ।

इसलिये महाराज ! शक्तिके अनुसार उसके सत्कारके लिये रत्नोंकी भेट  
 आदि सामग्री अच्छे प्रकारसे तयार कीजिये । फिर ऐसा करने पर उस गिद्ध  
 मन्त्रीको गदके द्वारासे चक्रवेने पास जा कर आदरपूर्वक लिवाला कर राजाका  
 दर्शन कराया और वह दिये हुए आसन पर बैठ गया । फिर चक्रवा बोला—'सय  
 तुम्हारे आधीन है । अपनी इच्छानुसार इस राज्यको भोगिये ।' राजहंसने कहा—  
 'हा, ठीक है ।' दूरदर्शी बोला—'हा, यह ऐसेही हो । परन्तु अब बहुतसी  
 प्रपञ्ची बात श्या है ।

यतः,—

दुग्धमर्थेन गृहीयात्स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।  
 मूर्खे छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ १०३ ॥

क्योंकि-लोनीवो वनसे, अनिमानीको हाम जोड़ कर, मूर्खको उसका मनोरथ  
 पूरा करके और पण्डितको ज्योंकी त्यों सच सच कह कर वशनें करना  
 चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यथा,—

सद्भावेन हरेन्मित्रं संभ्रमेण तु वान्धवान् ।  
 स्वानृत्यौ दानमानान्या दाक्षिण्येनेतराञ्जान् ॥ १०४ ॥

राजाह—‘कथमेवं संभवति?’ मन्त्री ब्रूते—‘देव! सत्वरं भविष्यति ।

यह सुन कर राजा बोला—‘ऐसा कैसे हो सकता है?’ मंत्रीने कहा—‘महा राज! शीघ्र हो जायगा ।

पश्य,—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति ॥ ९९ ॥

क्योंकि—मूर्ख सहजमें मिलाने योग्य है, और अधिक बुद्धिमान् औरभी सहजमें प्रसन्न कर लिया जाता है परन्तु थोड़ेही ज्ञानसे अभिमानी मनुष्यको ब्रह्माभी प्रसन्न नहीं कर सकता है ॥ ९९ ॥

विशेषतश्चायं धर्मज्ञो राजा सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया पूर्वं  
मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसंदर्शनाच्च ।

और विशेष करके यह राजा धर्मशील और मन्त्री सर्वज्ञ है । मैंने यह पहलेही मेघवर्णकी बातसे और उनके किये हुए कार्योंके देखनेसे जान लिया था

यतः,—

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।

तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुभाव्यते ॥ १०० ॥

क्योंकि—सर्वत्र परोक्षमें गुणोंसे युक्त अर्थात् अपने गुणोंको नहीं प्रकट करने वाले पुरुष कर्मसे जाने जाते हैं । इसलिये जिनका आकार और हृदयभाव छुपा हुआ है ऐसे महान् पुरुषोंको कर्मके बलसे निश्चय करे ॥ १०० ॥

राजाह—‘अलमुत्तरोत्तरेण । यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम् ।’ एतन्मया यित्वा गृध्रो महामन्त्री ‘तत्र यथाहं कर्तव्यम् ।’ इत्युक्त्वा दुर्गाभ्यन्तरं चलितः । ततः प्रणिधि वकेनागत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितम्—‘देव! संधिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्तत्समीपमा गच्छत् ।’ राजहंसो ब्रूते—‘मन्त्रिन्! पुनः संवन्धिना केनचिद्वा गन्तव्यम् ।’ सर्वज्ञो विहस्याह—‘देव! न शक्नास्पदमेतत् । यतोऽसौ महाशयो दूरदर्शी । अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम् । कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते कदाचित्सर्वत्र शङ्का ।

राजा बोला—‘इस उत्तर प्रत्युत्तरवो रहने दो । जो करना है सो कीजिये ।’ यह परामर्श करके महामन्त्री गिद्ध “इसमें जो उचित होगा, सो किया जायगा” यह रुढ़ कर गढ़के अदर गया । फिर दून बगलेने आ कर राजा हिरण्यगर्भसे निवेदन किया कि ‘महाराज ! महामन्त्री गिद्ध हमारे पास मेल करनेके लिये आया है ।’ राजहंसने कहा—‘हे मन्त्री ! फिर किसी न किसी सबन्धसे यहा आया होगा ।’ सर्वज्ञ हंस कर बोला—‘महाराज ! यह शक्काका स्थान नहीं है । क्योंकि यह

दूरदर्शी बड़ा सज्जन है । अथवा ऐसा मन्दबुद्धियोंका नियम है कि कमी तो शका नहीं करते हैं, कमी सर्वत्र शका करते हैं ।

तथा हि,—

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात्परिवञ्चितः

कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्त्रविचक्षणः ।

न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवापि सितोत्पलं

कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥ १०१ ॥

कुमुदिनीको इडने वाला चतुर इस रातको सरोवरमें बहुतसे तारोंकी परछा-  
रें क्षणभर ठगा हुआ (अर्थात् तारोंकी परछाइको कुमुदिनी जान कर) दिनमेंभी  
तारोंकी शकासे फिर श्वेतकमलोंको नहीं लेता है, जैसे छलसे छला गया ससार  
सत्यमेंभी बुराईकी शका करता है ॥ १०१ ॥

दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः ।

वालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ १०२ ॥

दुष्टोंसे छले हुए चित्त वाले मनुष्यका सज्जनोंमेंभी विश्वास नहीं रहता है,  
जैसे क्षीरसे जला हुआ बालक दहीकोभी सबमुच फूक फूक कर खाता है ॥१०२॥  
तदेव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसजीक्रिय-  
ताम् ।' तथानुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराञ्चक्रवाकेणोप-  
गम्य सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो दत्तासने चोपविष्टः । चक्र-  
वाक उवाच—'युष्मदायत्तं सर्वम् । स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं  
राज्यम् ।' राजहंसो ब्रूते—'एवमेव ।' दूरदर्शी कथयति—'एवमे-  
वैतत् । कित्तिवदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निप्रयोजनम् ।

इसलिये महाराज ! शक्तिके अनुसार उसके सत्कारके लिये रत्नोंकी भेट  
आदि सामग्री अच्छे प्रकारसे तयार कीजिये । फिर ऐसा करने पर उस निद्ध  
मन्त्रीको गडके द्वारसे चक्रवेने पास जा कर आदरपूर्वक लिवाला कर राजाका  
दर्शन कराया और वह दिये हुए आसन पर बैठ गया । फिर चक्रवा बोला—'सब  
तुम्हारे आवीन है । अपनी इच्छानुसार इस राज्यको भोगिये ।' राजहंसने कहा—  
'हा, ठीक है ।' दूरदर्शी बोला—'हा, यह ऐसेही हो । परन्तु अब बहुतसी  
प्रपञ्चकी बात कृथा है,

यतः,—

लुब्धमर्थेन गृहीयात्स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।

मूर्खे छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ १०३ ॥

क्योंकि—लोभीको धनसे, अभिमानीको हाथ जोड़ कर, मूर्खको उसका मनोरथ  
पूरा करके और पण्डितको ज्योंकी त्यों सब सब कह बर यशमें करना  
चाहिये ॥ १०३ ॥

अन्यथा,—

सद्भावेन हरेन्मित्रं संध्रमेण तु बान्धवान् ।

स्योभृत्या दानमानान्यां दाक्षिण्येनेतरा ज्ञानान् ॥ १०४ ॥

और दूसरे-बिनयसे मित्रको, मीठी बातोंसे बाधवोंको, दान तथा मानसे वी और सेवकोंको तथा चतुरतासे और और लोगोंको बश करना चाहिये ॥ १०४ ॥ तदिदानीं संधाय गम्यताम् । महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा । चक्र-वाको ब्रूते—‘यथा संधानं कार्यं तदप्युच्यताम् ।’ राजहंसो ब्रूते—‘कति प्रकाराः संधीनां संभवन्ति ?’

इसलिये अब मेलके लिये चलिये, चित्रवर्ण राजा बड़ा प्रतापी है । चक्रवा बोला—‘जैसे मेल करना चाहिये सोभी तो कहिये ।’ राजहंस बोला—‘सधियों कितने प्रकारकी हैं ?’

गृध्रो ब्रूते—‘कथयामि श्रूयताम्,—

गिद्ध बोला—‘कहता हूं । सुनिये,—

वलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।

आपन्नः संधिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम् ॥ १०५ ॥

सबल शत्रुके साथ जिसने युद्ध कर रक्खा है और सधिमो छोड़ और कोई जिसका उपाय नहीं, ऐसे आपत्तिमें गिर कर समय व्यतीत करते हुये राजाको सधिकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १०५ ॥

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा ।

उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥ १०६ ॥

और कपाल, उपहार, संतान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, ॥ १०६ ॥

अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः ।

परिक्रयस्तथोच्छन्नस्तथा च परभूषणः ॥ १०७ ॥

अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रह, परिक्रय, उच्छन्न, और परभूषण, ॥ १०७ ॥

स्कन्धोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ।

इति षोडशकं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १०८ ॥

स्कन्धोपनेय, यह सोलह प्रकारकी सधि कही गई है और सधिके जानने वाले इन्हींको सोलह सधि कहते हैं ॥ १०८ ॥

कपालसंधिर्विज्ञेयः केवलं समसंधितः ।

संप्रदानान्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ १०९ ॥

केवल समान वालेके साथ मेल करनेको “कपालसधि” कहते हैं, और जो वन देनेसे होती है वह “उपहारसधि” कहलाती है ॥ १०९ ॥

संतानसंधिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।

सन्निस्तु संगतः संधिर्मेत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११० ॥

कन्यादान देनेसे जो हो उसे “संतानसधि” जाननी चाहिये और सन्नतोंके साथ मित्रतापूर्वक मेल करनेको “संगतसधि” कहते हैं ॥ ११० ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।

संपत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यौ न भिद्यते ॥ १११ ॥

जितना अवस्थाका प्रमाण है तब तक समान धनसे युक्त रहे और संपत्ति या विपत्तिमें अनेक कारणोंसेभी नहीं दूटे ॥ १११ ॥

संगतः संधिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।

तथान्यैः संधिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः ॥ ११२ ॥

वह संगतसंधि परमोत्तम होनेसे सुवर्णके समान है और दूसरे संधि जानने वालोंने इसको “काञ्चनसंधि” कही है, अर्थात् सुवर्णके समान, नव भलेही वाय परन्तु दूटती नहीं है ॥ ११२ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।

स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ ११३ ॥

अपना काम निकालनेके अभिप्रायसे जो की जाती है उसे नीति जानने वाले “उपन्याससंधि” कहते हैं ॥ ११३ ॥

मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येप करिष्यति ।

इति यः क्रियते संधिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ ११४ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है यहभी मेरा करेगा इस हेतुसे जो संधि की जाती है उसे “प्रतीकारसंधि” कहते हैं ॥ ११४ ॥

उपकारं करोष्यस्य ममाप्येप करिष्यति ।

अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ ११५ ॥

और मैं इसका उपकार करता हूँ यहभी मेरा करेगा यहभी दूसरे प्रकारकी रामसुग्रीव जैसी प्रतीकारसंधि है ॥ ११५ ॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।

सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ ११६ ॥

जहा एकही प्रयोजनके करनेके लिये दृढ़ प्रमाणोंसे युक्त संधि होती है उसको “संयोगसंधि” कहते हैं ॥ ११६ ॥

आवयोर्यौधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति ।

यस्मिन्पणस्तु क्रियते स संधिः पुरुषान्तरः ॥ ११७ ॥

हम दोनोंके मुख्य योद्धा लोग हमारा कार्यसाधन करे ऐसी जिनमे प्रतिज्ञा की जाती है वह “पुरुषान्तरसंधि” है ॥ ११७ ॥

त्वयैकेन मदीयोऽर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति ।

यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ ११८ ॥

और केवल तुझे मेरे कामको अच्छी तरह कर देना चाहिये ऐसी प्रतिज्ञा जिन संधिमें शत्रु करे उसे “अदृष्टपुरुषसंधि” कहते हैं ॥ ११८ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुस्तर्जितः ।

संधीयते सधिविद्धिः स चादिष्ट उदाहृतः ॥ ११९ ॥

जहा राज्यका एक भाग देनेके पणसे बलवान् शत्रुके साथ जो सधि की जाती है उसको सधि जानने वाले “आदिष्टसधि” कहते हैं ॥ ११९ ॥

स्वसैन्येन तु संधानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।

क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १२० ॥

अपनी सेनाके साथ जो सधि करता है वह “आत्मादिष्टसधि” है और तो अपनी रक्षाके लिये सर्वस्व दे कर की जाती है वह “उपग्रहसधि” है ॥ १२० ॥

कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः ।

शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२१ ॥

जो कोशसे कुछ भाग, आधे कोशसे या सपूर्ण कोशसे सज्जन मंत्रीकी रक्षाके लिये की जाती है वह “परिक्रयसधि” कही गई है ॥ १२१ ॥

भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।

भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः ॥ १२२ ॥

सारवती अर्थात् अन्नसे पूर्णा भूमिके देनेसे जो हो उसे “उच्छिन्नसधि” कहते हैं और भूमिमें उपजे हुए सपूर्ण फलके देनेसे जो हो उसे “परभूषणसधि” कहते हैं ॥ १२२ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।

स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः संधि संधिविचक्षणाः ॥ १२३ ॥

और जिसमें खेतसे लाया हुआ और खच्छ किया हुआ अन्न कर्षकोंके ऊपर लिया ले जा कर दिया जाता है सधि जानने वाले उसको “स्कन्धोपनेयसधि” कहते हैं ॥ १२३ ॥

परस्परोपकारस्तु मैत्री संवन्धकस्तथा ।

उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव संधयः ॥ १२४ ॥

परस्पर आपसमें उपकार, मित्रता, संवन्ध तथा भेट येभी चार प्रकारकी सधि जाननी चाहिये ॥ १२४ ॥

एक एवोपहारस्तु संधिरेव मतो मम ।

उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रिविवर्जिताः ॥ १२५ ॥

केवल उपहार अर्थात् भेटही एक उपहार सधि है यह मेरी समति है और उपहारसे भिन्न और सब प्रकारकी सधिया मित्रता करके रहित है ॥ १२५ ॥

अभियोक्ता वलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ।

उपहारादत्ते तस्मात्संधिरन्यो न विद्यते ॥ १२६ ॥

और चढाई करके युद्धके लिये आने वाला शत्रु बलवान् होनेसे थोड़ाभी वन पिना लिये नहीं लौटता है इसलिये उपहारको लोड़ दूसरे प्रकारकी सधि नहीं है ॥ १२६ ॥

राजाह—‘भवन्तो महान्तः पण्डिताश्च । तद्वास्माकं यथाकार्यं सुपदिदयताम् ।’ मन्त्री ब्रूते—‘आः ! क्रिमेवमुच्यते ?

राजा बोला—‘आप लोग तो मेरे पण्डित हैं । इसलिये हमने जो करना चाहिये सो उपदेश दीजिये ।’ मन्त्री बोला—‘अज्ञां ! आप क्या कहते हैं ?’

आधिव्याधिपरीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।

को हि नाम शरीराय धर्मपितं समाचरेत् ॥ १२७ ॥

मनका सताप, रोग और पुत्रादिक वियोगसे उत्पन्न हुआ क्लेश इनसे आज नथवा कल विनाश पाने वाले शरीरके लिये कौनसा मनुष्य धर्मरहित आचरण करेगा ? ॥ १२७ ॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।

तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १२८ ॥

देहधारियोंका जीवन निश्चय करके पानीके भीतर चन्द्रमाके बिंबके समान चंचल है ऐसा इसे जान कर सर्वदा कल्याणका आचरण करना चाहिये १२८

मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।

सज्जनैः संगतं कुर्याद्धर्माय च सुखाय च ॥ १२९ ॥

मृगतृष्णाके समान क्षणभङ्गुर संसारको विचार कर धर्म और सुखके लिये सज्जनोंके संग मेल करना चाहिये ॥ १२९ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम् ।

इसलिये मेरी समझसे वही करिये ।

उतः,—

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया कृतम् ।

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३० ॥

क्योंकि—सहस्रों अश्वमेध यज्ञ और सत्य, तराजूमें रख कर तोले गये तो उंचमुच सहस्र अश्वमेधसे सत्यहीका पलड़ा भारी रहा ॥ १३० ॥

अतः सत्याभिधानदिव्यपुर.सरमप्यनयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानसंधिर्विधीयताम् ।' सर्वज्ञो ऋते—'एवमस्तु ।' ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालंकारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शो पूजितः प्रहृष्टमना-ध्रुवाक गृहीत्वा राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः । तत्र चित्रवर्णन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्गृह्णमानदारपुर.सर संभाषितस्तथाविधं संधिं स्वीकृत्य राजहंससमीपं प्रस्थापितः । दूरदर्शो ऋते—'देव ! सिद्धं नः समीहितम् । इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्त्य प्रतिगम्यताम् । अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य मनोभिलाषितं फलं प्राप्नुवन्ति ।

इसलिये सत्य वचनको स्वीकार करके इन दोनों राजाओंको काचन नाम सधि करनी चाहिये.' सर्वज्ञ बोला—'यही ठीक है.' फिर राजहंशराजाने वध और पलकारोंकी भेटसे उस मन्त्री दूरदर्शोका सत्कार किया और वह प्रसन्नचित्त हो कर चक्रवाकको ले कर राजा मयूरके पास गया, और वहा गिद्धके वचनसे चित्रवर्ण राजा बड़े आदरसत्कारपूर्वक सर्वज्ञसे बोला और उर्ची प्रकारकी अर्थात् काचननाम सधिको स्वीकार करके राजहंसके पास बिदा हुआ । दूरदर्शो बोला—'नाराज ! हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ, अब अपने स्थान विन्ध्याचलकोही लौट कर चलना चाहिये फिर समाने अपने अपने स्थान पर पहुंच कर मनोवांछित फल पाया.



विष्णुशर्मणोक्तम्—‘अपरं किं कथयामि ? कथ्यताम्  
राजपुत्रा ऊचुः—‘तव प्रसादाद्राज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम् । त  
सुखिनो भूता वयम् ।’

विष्णुशर्मणे कहा—‘और क्या कहू ? कहिये ।’ राजपुत्र बोले—‘आ  
प्रसादसे राजके व्यवहारका अग (राजनीति) जाना । और उससे  
सुखी हुये ।

विष्णुशर्मोवाच—‘यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु,—

तव विष्णुशर्मा बोले—‘यद्यपि ऐसा है तथापि यह और होय,—

संधिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा

सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कीर्तिश्चिर वर्धताम् ।

नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता

वक्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः’ ॥ १३१ ॥

विजयश्रील राजाओंको सधि सदा प्रसन्न करने वाली हो, सज्जन मनु  
विपत्तिरहित हों, सत्कर्म करने वालोंका यश बहुत काल तक बढे, नीति वेदया  
समान सर्वदा मन्त्रियोंके हृदय पर शोभायमान रह कर मुखचुम्बन करती  
अर्थात् मुख और हृदयमें निवास करे और प्रतिदिन अधिक आनन्द हो ॥ १३१

अन्यच्चास्तु,—

यह और भी होय कि—

प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स याव-

द्यावल्लक्ष्मीर्मुंरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।

यावत्खर्णाचलोऽयं द्रवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-

स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽयं कथानाम् ॥ १३२ ॥

जब तक चन्द्रशेखर महादेवजी पार्वतीजीके साथ जेहपूर्वक वसें, जब त  
मेघने विजलीके समान श्रीविष्णु, भगवानके हृदयमें लक्ष्मी निवास करे, अ  
जब तक जिसके चिनगारीके समान सूर्य है ऐसा दावानलके समान मेरुपर्व  
स्थित रहे तब तक नारायणपण्डितका बनाया हुआ यह कथाओंका संग्र  
प्रचलित रहे ॥ १३२ ॥

अपर च,—

श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून् ।

येनायं संग्रहो यत्तालेखयित्वा प्रचारितः ॥ १३३ ॥

और यह चक्रवर्ती श्रीमान् राजा धवलचन्द्र शत्रुओंको जीते कि जिन्हें  
यह संग्रह यत्नेसे लिखवा कर प्रचार किया ॥ १३३ ॥ इति ॥

५० रामेश्वरभट्टका किया हुआ हितोपदेशग्रन्थके सधिप्रकरण चतुर्थ

भागका भाषा अनुवाद समाप्त हुआ शुभम्-

समाप्तोऽयं हितोपदेशः ।

# प्रथमं परिशिष्टम् ।

## १ हितोपदेशगतकथासूचीपत्रम् ।

	पृष्ठ.		पृष्ठ.
<b>प्रथम भाग-मित्रलाभ.</b>		वंदरकी मृग्युकी कथा ...	७२
विद्या ... .. १		कर्पूरपट नाम घोवी, उसकी	
६, कपुआ, मृग और चूहेका		युवा धोवन, गधा और	
उपाख्यान ... .. ९		कुत्तेकी कथा ... .. ७३	
७ बाघ और मुसाफिरकी कथा	११	दुर्दान्त नाम सिंह, एक चूहा	
८, शक और गीदड़की		और दधिकर्ण नाम बिला-	
कथा ... .. २३		वकी कथा ... .. ८६	
९ मिट्ट, बिलाव और चिडि-		वदर, घटा, और कराला नाम	
सोकी कथा ... .. २४		कुटनीकी कथा ... .. ८९	
१० राम सन्यासी और एक		कदर्पकेतु नाम सन्यासी, एक	
धनिक हिरण्यक नाम चूहेकी		बनिया, ग्वाला और उसकी	
कथा ... .. ३७		व्यभिचारिणी स्त्री और दूती	
११ नदास बूढा बनियां और		नायनकी कथा ... .. ९५	
उसकी युवा स्त्री लीलावतीकी		एक ग्वाला, उसकी व्यभि-	
कथा ... .. ३८		चारिणी स्त्री, कोतवाल और	
१२ शेरबनाम बाघ, मृग, शकर,		उसके बेटेकी कथा ... .. ९९	
बाघ और गीदड़की कथा	४८	कौएके जोड़े और काले सर्पकी	
१३ सुषबल नाम राजकुमार और		कथा .. ... १०१	
युवा बनियेकी स्त्री लीलावती		दुर्दान्तनाम सिंह और एक बूढे	
और उसके पति चारुदत्तकी		गीदड़की कथा ... .. १०२	
कथा ... .. ५७		टटिरीके जोड़े और समुद्रकी	
१४ शेर और हाथिकी कथा ...	५८	कथा ... .. ११०	
<b>दूसरा भाग-सुहृद्देद.</b>		<b>तीसरा भाग-विग्रह.</b>	
१५ राम नाम वैश्य, सजीवक नाम		हिरण्यगर्भ नाम राजहंस, चित्र-	
रथ, पिंगलनाम सिंह		वण नाम मोर और इनके	
और दमवक करटकनाम		मन्त्री आदिका उपाख्यान	१२५
१६ गीदड़की उपाख्यान...	६५		

	पृष्ठ.		
पक्षी और चन्द्रोंकी कथा ...	१२३	अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति	
वाघवर ओढ़े हुए घोषीके गधे		और यद्भविष्यनाम तीन	
और खेतवालेकी कथा ...	१२४	मछलियोंकी कथा ...	१
हाथियोंके झुंड और विजय		समुद्रदत्त नाम बनिया, उसकी	
नाम बूढ़े शशककी कथा	१२६	रत्नप्रभा नाम बहू और	
हंस, कौआ और एक मुसाफिर-		उसके यारकी कथा ...	१
की कथा ... ..	१३०	बगले, साप, और नौलेकी कथा	१
काक, बटेर और एक ग्वालेकी		महातप नाम मुनि और एक	
कथा . . . . .	१३०	चूहेकी कथा ... ..	१
मदमति नाम बढई, उसकी छिनाल		बूढ़े बगले, केकड़े और मछ-	
जवान छी और उसके यारकी		लीकी कथा ... ..	१
कथा ... ..	१३१	देवशर्मा नाम ब्राह्मण और एक	
नीलमें रंगे हुए एक गीदड़की		कुम्हारकी कथा ... ..	१
मृत्युकी कथा ... .	१४०	सुन्द उपसुन्द नाम दो बैलोंकी	
वीरवरनाम राजकुमार और उ-		कथा ... ..	१
सके बेटेके बलिदानकी कथा	१५०	ब्राह्मण, बकरे और तीन बूतोंकी	
चूडामणि नाम क्षत्रिय, एक नाई		कथा ... ..	१
और भिखारीकी कथा ...	१५४	मदोत्कट नाम सिंह और उसके	
<b>चौथा भाग-संधि.</b>		सेवक काक, वाघ, सियार	
हंस और मोरके मेलके उपा-		और ऊटकी कथा ...	१
ख्यान . . . . .	१६७	मंदविष नाम सर्प और एक में-	
सकट बिकट नाम दो हंस,		हक तथा माधव नाम ब्राह्मण	
और उनके मित्र कबुत्रीव		और सर्पकी कथा ...	१
कछुएकी कथा ... ..	१६८		

## द्वितीयं परिशिष्टम् ।

### २ हितोपदेशगतश्लोकविषयकसूचीपत्रम् ।



	पृष्ठ.	श्लोक.
बगलाचरण	१	१
हितोपदेशकी प्रशंसा	१	२
विद्याकी प्रशंसा -	१,२	४,५,६,७
शास्त्रकी प्रशंसा -	२	१०
शौच, धन, प्रभुता और अज्ञानताकी निन्दा)✓	२	११
सूत्रकी निन्दा ३,४,६,१८,१९,६६✓		{ प्र. १२ - से ३४ तक { मि. ३८, ३९, ४० सु. ७
स्यारके छ सुख ✓	४	२०
सकी प्रशंसा ✓	५	२५,२६
भारवधकी मुख्यता { ५,६ १४,२१		{ प्र. २८, २९, ३३ { मि. २१, ५०, ५१, ५२
योगकी प्रशंसा ✓	५,६	३०, ३१, ३३ से ३७ तक
भारवधकी प्रशंसा	६	३२
वृत्सगकी प्रशंसा ✓	७,८	४१ से ४७ तक
धर्मके आठ मार्ग ✓	१२	८
दानकी सफलता	१२,१३	११,१६
परमात्माकी रक्षा	१२	१२
पण्डितका लक्षण)✓	१३,५०	१४,१७०
सभावकी उत्कर्षता	१३,१४१	मि. १७ वि. ५८
विद्याकी अकर्तव्यता	१४,३२	१९,८७
सभावकी मुख्य परीक्षा	१४	२०
द्वंद्वके वचनका ग्रहण	१५	२३
स्यारके छ दुःख ✓	१५	२५
लोभकी निन्दा ✓	१५,१६	२६,२७,२८
अज्ञानताकी निन्दा ✓	१६	२९
बन्धुकी प्रशंसा तथा लक्षण	१६,१८५	मि. ३१ स. ६१

	पृष्ठ.	श्लोक.
महात्माओंके स्व- भावकी प्रशंसा } -	१७, ५४	३२, १९२
त्यागनेके योग्य छ. दोष ✓	१७	३४
समूहकी प्रशंसा	१७	३५, ३६
सच्चा मित्रकी प्रशंसा ✓	१८, ६५	मि. ३८, २०९, २१०
पुण्यात्माका लक्षण	१८	३६
शुभाशुभ कर्मका फल	१९	४०, ४१
आत्माकी मुख्य रक्षा ✓	१९	४२
प्राणोंकी मुख्य रक्षा ✓	२०	४३
पराये अर्थ धन-जीवनका त्याग २०, १५२		मि. ४४, वि. १००
यशकी मुख्यता	२०	४७, ४८
शरीर और गुणका अंतर ✓	२१	४९
अनेक मित्र करनेकी मुख्यता	२२	५३
समानके साथ समानकी प्रीति ✓	२२	५४, ५५
अपरिचितको वास न देना	२३	५६
केवल जातिमात्र जान कर } निरादर करनेकी निन्दा }	२५	५८
अतिथिका सत्कार ✓ २५, २६, ३६, ३७		मि ५८ से ६१ तक. १०७, १०८
स्वर्ग जानेमें मुख्यता	२६	६४
धर्मकी मुख्यता ✓	२६	६५
उदरके लिये पातकनिन्दा	२७	६६
अत्मगुणीकी प्रशंसा	२७	६९
व्यवहारसे मित्र और शत्रुका ज्ञान	२८	७१
मित्र, शत्रु, भार्या और } बाधवकी परीक्षा }	२८	७२
बाधवका लक्षण ✓	२९	७३
विपत्ति और मृत्युके } पास होनेका लक्षण }	२९, ३३	७४, ७६, ९१
कुमित्रका त्याग ✓	३०	७७
विश्वासघात	३०	७८
विश्वासघातीकी निन्दा ✓	३०	७९
दुर्जनकी निन्दा . { ३०, ३१, ३२, १०७ { मि. ८०, ८१, ८२, ८९, सु. १३१ ११८, ११५, १३१ { से १३९ तक. १६४, १६५, मि. २३		८३
प्राणुचके फलका समय	३१	

श्लोकविषयकसूचीपत्रम् ।

श्लोक.	पृष्ठ.	श्लोक.
मनोंके स्थिर चित्तकी प्रशंसा	३२, ३३	८५, ८६
गर्जर, भैंसा, भेड़, काक और छुद्र	} ३२	८७
मनुष्य इनके विश्वासकी अकर्तव्यता		८८
बहुते मेल करनेका त्याग	३२	९२
दुर्जन और सज्जनका अन्तर ✓	३३	९४
सगतिव्य कारण ✓	३३	९६
सज्जन और दुर्जनका आकार ✓	३४	९७
श्रेष्ठ मित्रके गुण ✓	३४	९८
श्रेष्ठ भाषणकी प्रशंसा	३४	१००, १०१
मित्रके दूषण	३५	१०२
महात्मा और दुरात्माका लक्षण	३५	१०३
गुद्विमानकी प्रशंसा	३६	१०४, १०५, १०६
सोपदेशमें चतुरता	३६	११० से ११३ तक.
गृह देशमें निवासकी निन्दा	३६, ३९	{ मि. ११४ से १२२ तक.
द्विपतिकी निन्दा	{ ३९, ४०, ९९ १००, १०१	{ सु ११५ से ११९ तक.
क्रियोंके निन्दा आदि दूषण		{ मि. १२३ से १२९ तक.
धर्मकी प्रशंसा	{ ४१, ४२, ६५ ६६, ६७, ९१	{ सु १२३ से १२९ तक. १३०, १३१
गुद्विमानके लिये नव गुणमंत्र	४२	१३२ से १३५ तक.
मनस्वीकी प्रशंसा	४३	१३६ से १३८, १५१ सु. ९३
निर्वनताकी निन्दा	४३, ४४, ४६, ९१	१३९
साधनाकी निन्दा	४४	१४०
पुरुषविडम्बना	४४	१४१
पुरुषके जीवनमें मरण	} ४४	१४२
और मरणमें विश्राम		१४३
लोभकी निन्दा	४५	१४४, १४५, १४८
भसतोषकी निन्दा	४५, ४६	१४६
सतोषकी निन्दा	४५	१४७
मिराशाकी प्रशंसा	४५	१४९
मनुष्यके जीवनकी प्रशंसा	४६	१५०
धर्म, सुख, भेद आदिका निर्णय	४६	१५१
शत्रुताकी प्रशंसा	४६	१५२
मनुष्यके लिये मुख्य त्याग	४६	
पराधानताकी निन्दा	४६	

मि. १८, १९

मि. ११

५८ से २१ तक

	पृष्ठ.	श्लोक.
धनहीन जीवनकी निन्दा	४६	१५३
ससाररूपी वृक्षके दो फल	४७	१५४
धर्मकी प्रशंसा	४७	१५५
दानकी प्रशंसा	४७, ६६, ६७	मि. १५६ सु. ८, १०, ११, १२
कृपणकी निन्दा	४७, ४८	१५७, से १६२ तक.
ससारमें दुर्लभ वस्तु	४८	१६३
मृत्युके निमित्तकारण	४९	१२५
धनवान्के धनका निर्णय	५०	१६८, १६९
उद्योगी पुरुषकी प्रशंसा	५०, ५१	१७१ से १७६ तक.
स्थानभ्रष्ट होनेकी निन्दा	५१	१७३
सुखदुःखका भोग	५२	१७५
लक्ष्मीका निवास	५२	१७५
वीरपुरुषकी प्रशंसा	५२	१७९
धनवान् हो कर निर्धनताकी निन्दा	५२	१८०
किञ्चित् काल भोगने योग्य वस्तु	५२	१८०
ईश्वरके आधीन जीविका	५२, ५३	१८२, १८३
धनकी निन्दा	५३, ५४	१८४ से १८९ तक
तृष्णाके त्यागकी प्रशंसा	५५	१९०
सज्जनकी प्रशंसा	५४	१९०
दानी मनुष्यकी प्रशंसा	५५	१९०
चार प्रकारके मित्र	५५	१९०
मन्त्रीकी प्रशंसा	५६	१९०
द्विषोंके भ्रुकुटीरूपी } याणोंसे धैर्यका नाश }	५७	१९०
द्विषोंके दोष	५८	१९०
पतिव्रताका लक्षण	५८	२००, २०
राजाकी प्रशंसा.	{ ५९, ८५, ८६ } { १६५, १८७ }	{ मि. २०३ से २०६ तक. सु. ८ ८२ वि. १४४, १४५ से १५५ तक. }
दु खमें दु खका होना	६२	२०
उत्पत्तिका अवश्य नाश	६२	२१
मित्रकी प्रशंसा	६२, ६३	२१३, २१
निश्चित कार्य पर दृढ़ता	६८	२१
उन्नतिके विमल	६६	२१
दुःखनिन्दा	६६	२१
बल, शक्ति आदिकी सफलता	६७	२१

	पृष्ठ.	श्लोक.
न्यायकी प्रशंसा	६७, ६८	१३, १४, १५
आयुकी बलवानता	६८	१६, १७, १८
सेवाकी निन्दा	७०, ७१	२० से २७ तक.
सेवाकी प्रशंसा	७१, ७४	२८, २९, ३४, ३५
स्वामीसेवककी निन्दा	७३	३२
पराये अर्थ जीवनका फल	७४, ७५, ७६	३६ से ४४ तक.
मूर्खकी निन्दा	७६, ७७, ७८	४५, ५२
कर्मकी प्रशंसा	७७, ७८	४६ से ५०.
पण्डितका लक्षण	७८, ७९	५१, ६२
सेवाकी रीति	७८, ७९	५४, ५५
राजाके गृहयोग्य मनुष्य	७९	५६
क्षत्रिय पुरुषका लक्षण	७९	५७
राजा, स्त्री और बेलका } निफट आश्रय करना }	७९	५८
प्रेहयुक्तके चिह्न	८०	५९, ६०
विरक्तके चिह्न	८०	६१
कुभवसरके वचनकी निन्दा	८०	६३
राजाके विना आज्ञा } कार्यकी कर्तव्यता }	८१	६४
गुणकी प्रशंसा तथा रक्षा	८१	६५
राजाको तृण आदिकी आवश्यकता	८१	६६
मणि और काचका भेद	८२	६८
मनुष्यकी उत्साहहीनता	८२	६९
गृह्य तथा भाभरणके } योग्य स्थान आदि }	८२, ८३	७१, ७२, ७३
अवज्ञाकी निन्दा	८३, ८४	७७, ७८
आपत्तिरूपी कर्सीटी पर } बापवादिकी परीक्षा }	८५	८०
छोटे शत्रुके लिये समानपातक	८६	८४
मिना धातु गृह्य	८६	८५
मतिप्रशंसा	८८, १०२	सु ८६, १२२
बौद्धा समान पर बल	८८, ८९	८७, ८८
शेवकप्रशंसा	९६	९०, ९१, ९२
चोदाका दूषण	९१	९४
अधिक व्ययकी निन्दा	९२	९५



	पृष्ठ	श्लोक.
ब्राह्मण और क्षत्रियको भ- धिकारी करनेसे हानि }	९२	९६, ९७
पुराने सेवककी निन्दा	९२	९८, ९९
मन्त्रीकी निन्दा { ९२, ९३, १०५ १३६	{ सु. १०० से १०६ तक, १२८ १२९ वि० ३८, १०३, १०५	
दंडनीय पुत्रादिको दंड देना	९४	१०७
अहंकार आदि कारणसे नष्टता	९४	१०८
राजाकी कर्तव्यता	९४	१०९
मनुष्यके कर्मको सूर्यादिका जानना	९८	११२
चतुरकी प्रशंसा	९९	११३
उपायकी प्रशंसा	१०१	१२०
बिना मृत्युके मृत्यु	१०२	१२१
प्रियवस्तुकी प्रशंसा	१०६	१३२, १३३
राजाकी दृष्टिकी प्रशंसा	१०६	१३४
सदुपदेशकी प्रशंसा	१०६	१३५
राज्यभेदका मूल कारण	१०७	१३६
मित्र, स्त्री आदिकी प्रशंसा	१०७	११६
राजाकी निन्दा १०८, ११३, ११४		१४२, १५८, १५९, १६०
बिना विचारकी दंडकी निन्दा १०८		१४३, १४४
मन्त्रका गुप्त रखना १०८, १०९		१२६, १४७, १५५
मृत्युके चार द्वार ११०		१५१
राजाके सेवककी निन्दा १११		१५२
धन, विषय, स्त्री आदि पानेसे फल १११		१५३
स्त्री, कृपण, राजा आदिकी निन्दा ११३		१५६
उपकार उपदेशादिकी नष्टता ११४		१६१, १६२, १६३
समान-बलमें युद्धकी योग्यता ११५		१६६
वज्र और राजाके तेजकी निन्दा ११५		१६८
शत्रुके दुर्जन गुण ११६		१६९
युद्धका समय ११६		१७०
सभामें मरनेकी प्रशंसा ११६, १६६	{ सु १७१, १७३ वि. १४६ से १४८ तक.	
तेजहीन बन्वान्की निन्दा ११६		१७३
दुष्ट, याचना, धनादिकी निन्दा ११७		१७६
मनुष्यकी निन्दा ११७		१७५
स्त्री प्रशंसा ११८		१७७

	पृष्ठ.	श्लोक.
राजाओंका कर्तव्य कार्य	११८, ११९	१७८ से १८१ तक.
दयालु राजा, लोभी } ब्राह्मणादिकी निन्दा }	११९	१८२
राजाओंकी नीतिकी प्रशंसा	११९	१८३
राजाकी प्रशंसा	१२१	२, ३
मूर्खकी निन्दा तथा लक्षण	१२२, १३४	४, ३१
पराक्रमकी प्रशंसा	१२४	७
बड़ोंकी सेवाकी प्रशंसा	१२५	१०, ११, १२
ह्याथी, सर्प, राजा, दुर्जनसे भय	१२६	१४
मंत्रीके लक्षण	१२८, १६२	१६, १७, १३३, १३४
दूतके लक्षण	१२७, १२९	१५, १९, २०
दुर्जनके सगकी निन्दा	१२९, १३०, १३१	२१, २२, २३
पतिव्रताके लिये } भर्ताकी प्रशंसा }	१३२, १३३	२५ से ३० तक
पण्डित और मूर्खका लक्षण	१३४	३१
भेदियेकी प्रशंसा	१३५	३४, ३५
सत्रका शुभ रखना } तथा प्रशंसा }	१३५, १३६, १३७	३६, ३७, ४२
युद्धकी असमति	१३६	३९
साम, दान, भेदसे शत्रुका वशीकरण	१३६	४०
विना युद्ध शूरता	१३७	४१
नीतिप्रशंसा	१३७, १३८, १४८	४३, ४८, ९७
बुद्धिमानका लक्षण	१३७, १३९	वि. ४४, स. ६
कार्यसिद्धिका विग्र	१३७	४५
उपायज्ञाताकी प्रशंसा	१३८	४९
बलीके साथ युद्धका त्याग	१३७, १३८	वि. ४६, ४७
दुर्गकी प्रशंसा	१३८	५०, ५१
दुर्गके लक्षण	१३८, १३९	५२ से ५५ तक.
लवण रसकी प्रशंसा	१३९	५६
समा, वृद्ध, धर्म, सत्यका निर्णय	१४२	६१
दूतकी प्रशंसा	१३८, १४२, १४३	४९, ६०, ६२, ६३
असतुष्ट ब्राह्मण तथा राजा } और गणिका आदिकी निन्दा }	१४३	६४
विग्रहका समय	१४४	६५ से ६८ तक.
युद्धमें जानेकी तथा } लड़नेकी रीति }	१४५, १४६	६९ से ८२ तक.

	पृष्ठ.	श्लोक.
सेनाके हाथीकी प्रशंसा	१४६	८३
अश्वप्रशंसा	१४७	८४, ८५
युद्धकी चतुरता तथा सेनाका कार्य	१४७	८६
सेनाकी प्रशंसा	१४७	८७
बलहीन सेनाकी निन्दा	१४७	८९
राजासे ज्ञेह छुटनेका लक्षण	१४७	९०
राजाको विजय पानेकी रीति	१४८	९१ से ९५ तक.
उदार, शूर तथा दाताका लक्षण	१५३	१०२
शत्रुकी सहजमें मृत्यु	१५६	वि. १०७
शत्रुकी सेनाके नाशका } उपाय तथा उपदेश }	१५६, १५७	वि. १०८ से ११४
राजाका दूषण	१५७	वि. ११५
आवश्यक उपदेश	१५७, १५८	वि. ११६ से ११९ तक.
देवता गुरु आदि पर कोप न करना	१५९	वि. १२०
सास्थमें पाडिल्य	१५९	वि. १२१
बुद्धिमान् और बुद्धिहीनमें भेद	१५९	१२२
व्ययकी प्रशंसा	१६०	१२३, १२४, १२५
शूरकी प्रशंसा	१६१	१२६, १२७
राजाके महागुण	१६१, १६२	१२९ से १३२ तक.
दुर्गाश्रयप्रशंसा	१६२	१३५
युद्धमें राजाकी अग्रगण्यता	१६३	१३६
दुर्गके दोष	१६३	१३७
दुर्गके जयके उपाय	१६३	१३८
युद्धमें यथावसर कर्तव्य	१६४	१३९
नामी मन्त्रीकी आपसमें प्रशंसा	१६८	१४०
समरमें उत्साह	१६९, १६५	१४१, १४२
राज्यके उ अग	१६५	१४३
भाग्यकी निन्दा	१६७	३
कनका दोष	१६७	३
भेदोपदेशप्रशंसा	१६८	६
उपय तथा अपायकी निन्दा	१७०	८
शत्रुके विश्वासकी निन्दा	१७२	९
रहने उच्चारकी न मन्तव्यता	१७२	१०
रहने उच्चारकी उपदेश	१७३	११

	पृष्ठ	श्लोक.
नीचको उच्चपद देनेकी निन्दा	१७३	१२
अधिक लोभकी निन्दा	१७४	१३
मित्र और शत्रुका लक्षण	१७५	१४
अप्राप्त चिंताकी निन्दा	१७५	१५
कुमार्गी राजाके मंत्रीकी निन्दा	१७७	१६
राजाको मंत्रीका अवलम्बन	१७७	१७
समानके साथभी मेलका उपदेश	१७७	१९
ब्राह्मण क्षत्रिय आदिकी पूज्यता	१७८	२०
सधि करनेके योग्य ७ मनुष्य	१७९	२१
सधि (मेल) प्रशसा	१७९, १८०	२२ से २८ तक.
सधि करनेके लिये } अयोग्य २० पुरुष }	१८०, १८१	२४ से ४७
अयोग्य पुरुषोंके साथ } युद्ध न करनेका } कारण तथा फल }	१८१, १८२	३४ से ४७ तक.
नीतिज्ञानकी प्रशसा	१८३	४८
राजाका चक्रवर्ती होनेका उपाय	१८३	४९
विश्वास दे कर वसना	१८४	५१
अपने समान दुर्जनको भी } सत्यवादी जाननेसे हानि }	१८४	५२
सज्जनको दुष्टोंके वचनसे } बुद्धिकी भ्रष्टता }	१८५	५३
क्षुधापीडितका कर्तव्य	१८६	५४
धर्महीन पुरुषका लक्षण	१८६	५५
अभयप्रदानप्रशसा	१८६	५६
शरणागतके रक्षाकी प्रशसा	१८७	५७
चार्य पढ़ने पर शत्रुको मित्र मानना	१८८	५९, ६०
संसारकी अनित्यता } आदिका वर्णन }	१८९, १९२	६२ से ८२ तक.
रागियोंके बन्धन दोष और } विरक्तताका उपदेश }	१९३	८४, ८५
जलसे अन्तरात्माका शुद्ध न होना	१९३	८६
मनुष्यके लिये सुख	१९३	८८
सत्संग और रतिव्य उपदेश	१९४	८९, ९०
इया स्वयं गर्जनाकी निन्दा	१९५	९१

	पृष्ठ	श्लोक
एक साथ शत्रुसे युद्धकी निन्दा	१९५	९२
वातके भेदको विना जाने } क्रोधकी अकर्तव्यता }	१९५	९३
शीघ्र नहीं किये कार्यकी नष्टता	१९६	९४
राजाको सुखके अर्थ } ६ विषयोंका त्याग }	१९७	९५
नत्रीके मुख्य गुण	१९७	९६
कार्य एकाएक करनेसे हानि	१९७	९७
कार्यसाधनकी प्रशंसा	१९७	९८
अभिमानीकी सर्वदा अप्रसन्नता	१९८	९९
पुरुषोंका कर्मके फलसे निश्चय करना	१९८	१००
दुर्जनसे वचितका सुजनमें } अविश्वास करना }	१९९	१०१, १०२
लोभी, अभिमानी, मूर्ख, पण्डित } शत्रुपुत्रादिको वश करनेका उपाय }	१९९	१०३, १०४
सधिस उपदेश	२००	१०५
१६ प्रकारकी सधिया } और उनके लक्षण }	२०० से २०२ तक	१०६ से १२६ तक
धर्मकी दृढ़ता	२०३	१२७, १२८
सन्तनके सग मेलका उपदेश	२०३	१२९
सत्यकी प्रशंसा	२०३	१३०
अज्ञानीपद	२०४	१३१, १३२, १३३

इति द्वितीयोपदेशगतश्लोकविययकसूचीपत्रं समाप्तम् ॥

# तृतीयं परिशिष्टम् ।

## हितोपदेशगतश्लोकानुक्रमणिका ।

अ.	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
			अतिष्ठादिष्टलाभेऽपि	११	६
अकस्माद्युवती वृद्ध	३८	१०९	अनुचितकार्यारम्भ.	११०	१५१
अकाण्डपातजाताना	१९२	८२	अनेकचित्रमन्त्रस्तु	१८१	४०
अकालसहस्रत्यल्प	१६३	१३७	अनेकयुद्धविजयी	१८०	२८
अकालसैन्ययुक्तस्तु	१८२	४६	अनेकसशयोच्छेदि	२	१०
अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा	१०९	१४९	अन्तर्दुष्ट क्षमायुक्त	९३	१०१
अचिन्तितानि दु खानि	४९	१६६	अन्यथैव हि सौहार्दं	३५	१००
अजरामरध्याज्ञो	१	३	अन्यदा भूपण पुंसा	१२४	७
अज्ञ सुखमाराध्य	१९८	९९	अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वं	१४८	९७
अज्ञातकुलशीलस्य	२३	५६	अपराधः स दैवस्य	१६७	२
अज्ञातमृतमूर्खाणा	३	१३	अपराधेऽपि नि शक्नो	९२	९८
अज्ञान कारण न स्यात्	१९२	८१	अपराधो न मेऽस्तीति	२९	७५
अञ्जनस्य क्षय दृष्ट्वा	६७	१२	अपायसदर्शनजा विपत्तिं	८०	६२
अत एव हि नेच्छन्ति	१९१	७७	अपुत्रस्य गृह शून्य	४२	१२७
अतध्यान्यपि तध्यानि	९९	११३	अपृष्टोऽपि हित त्रूयात्	१०७	१४०
अतिथिर्यस्य भग्नाशो	२५	६२	अप्रसादोऽनधिष्ठान	१४७	९०
अतिव्ययोऽनवेक्षा च	९१	९४	अप्राप्तकालवचन	८०	६३
अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि			अप्रियस्यापि पत्यस्य	१०६	१३५
पार्ष्णिणे च	१०५	१२७	अप्रियाण्यपि कुर्वाणो	१०६	१३३
अत्यन्तविमुखे दैवे	४३	१३२	अबुधैरर्थलाभाय	७०	२४
अदुर्गो विषय कस्य	१३८	५१	अभियोक्ता बलीय	२०२	१२६
अदृष्टनर आदिष्ट	२००	१०७	अभेदेन च युध्येत	१४६	७९
अदेशस्यो बहुरिपु.	१८०	३२	अभ्रच्छाया खलप्रीति.	५२	१८१
अदेशस्यो हि रिपुणा	१८२	४४	अम्भासि जलजन्तूना	५६	१९६
अर्थात्तव्यवहारार्थं	१२८	१११	अय निज परो वेति	२७	७०
अधोऽध पश्यत कस्य	६५	२	अयुद्धे हि यदा	११६	१७१
अनभ्यासे विष विद्या	४	२३	अरक्षित तिष्ठति	६८	१८
अनागतवता चिन्ता	१७५	१५	अरावप्युचित कार्यं	२५	५९
अनागतप्रियाता च	१६८	५	अर्थनाश मनस्त्राप	४२	१३०
अनाहृतो पिशेयस्तु	७८	५२	अर्था पादरजोपमा.	४७	१५५
अतिथ्य शौचन रूप	१९०	६७	अर्थाग्नो नित्यमरोगिता	४	२०
			अर्थेन तु विहीनस्य	४१	१२५

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
अलङ्कार चैव लिप्सेत	६६	८	आ आनस्य प्रदानस्य	१९६	९४
अल्पानामपि वस्तूनां	१७	३५	आदित्यचन्द्रावनिलो-		
अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञः	७९	५६	ऽनलश्च	९८	११२
अवज्ञानाद्राज्ञो	८३	७७	आदेयस्य प्रदेयस्य	१०९	१४६
अवशेन्द्रियचित्ताना	१४	१८	आधिर्व्याधिपरीतापात्	२०३	१२७
अवश्यभाविनो भावा	५	२८	आपत्सु मित्र जानीयात्	२८	७२
अवस्कन्दभयात्	१५६	१११	आपदर्थे धन रक्षेत्	१९	३२
अविचारयतो युक्ति	१७३	११	आपदामापतन्तीना	१६	३०
अविद्वानपि भूपालो	१५७	११४	आपद्युन्मार्गगमने	८१	६४
अव्यवसायिनमलस	६६	४	आपद्युन्मार्गगमने कार्यं	१०४	१२४
अव्यापारेषु व्यापार	७१	३०	आपातरमणीयानां	१९१	७३
अथ शस्य शास्य वीणा	८३	७५	आपीडयन् बलं शत्रो.	४८	९१
अधमेधमहस्त्राणि	२०३	१३०	आमरणान्ता प्रणया	५४	१९२
अमनुष्या द्विजा नष्टा	१४३	६४	आयु कर्म च वित्त च	५	२७
असभय हेममृगस्य	१६	२८	आयुर्वित्त गृहच्छिद्र	४२	१३१
असभोगेन नामान्य	४८	१६२	आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञा	१५९	१२२
असत्य साहस्य माया	५७	१९९	आराध्यमानो नृपति	११३	१५८
असाधना धितहीना	९	२	आरोप्यते शिला शैले	७७	३७
असंधके चानुरकि	८०	६०	आलस्य स्त्रीसेवा सरोगता	६६	५
असेभितेधरद्वार	४५	१४७	आवयोर्धोधमुख्यैस्तु	२०१	११७
अस्मानिर्निर्मिता	१२३	६	आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणा	८८	१५
अस्तिस्तु निर्गुण गोत्रे	८	४४	आश्रिताना भृतौ म्यामि	७३	२३
अहितद्वितविचार-			आसन्नवरतामेति	१९०	६३
शून्यबुद्धे	७६	४५	आसन्नमेव नृपतिर्भाते	७९	५८
आ			आमीदीरपरो नाम	१४०	९७
आकर्षारिद्विर्तगया	७८	५०	आह्वेषु च ये शूरा.	१६६	१११
आज्ञानद्वारात् राजा	९३	१०७	आहारनिद्राभयमैधुन च	५	१५
आज्ञानद्वो नरेन्द्राणा	८८	८५	आहारो द्विगुण स्त्रीणा	१०१	१११
अन्मद्यस्य सिद्धिं तु	२०१	११३	इ.		
आ मनस्य परेषा च	१२८	८	इत्यान्ययनदानानि	१७	६
आ मनस्य परियत्न	१३०	५७	ई		
आत्मा नक्षो सयस-			इष्ट्यां शृणां स्वसनुष्ट.	१५	१९
सुगन्ता नो	१२३	८३	उ.		
आत्मोदयः पश्यन्नि.	१३८	१३	उन्नमन्यापि वर्णस्य	२३	१६
आ नैक्येन नो वेति	१८८	५२			

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं	१०	४	एकस्य दुःखस्य न		
उत्पन्नामापद यस्तु	१६९	६	यावदन्त	६२	२०८
उत्पन्नेष्वपि कार्येषु	९९	११४	एकार्थां सम्यगुद्दिश्य	२०१	११६
उत्सवे व्यसने चैव	२९	७३	एतावज्जन्मसाफल्यं	७०	२२
उत्सवे व्यसने युद्धे	१८९	६१	एतैः सन्धि न कुर्वीत	१८१	३३
उत्साहशक्तिहीनत्वात्	१८१	३५	एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ	७०	२४
उत्साहसपन्नमदीर्घसूत्र	५२	१७८	औ.		
उदीरितोऽर्ध. पशुनापि			औरसं कृतसबन्ध	५५	१९५
गृह्यते	७७	४९	क.		
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु	१२७	१५	कङ्कणस्य तु लोभेन	१०	५
उद्यमेन हि सिध्यन्ति	६	३६	कथ नाम न सेव्यन्ते	७१	२८
उद्योगिनं पुरुषसिंह-			कदर्थितस्यापि च धैर्य-		
मुपैति	६	३१	वृत्ते.	८२	६७
उपकर्ताधिकारस्य	९२	९९	कनकभूषणसंग्रहणोचितोऽ३		७२
उपकर्त्रारिणा सधिर्न	१७५	१४	कपाल उपहारश्च	२००	१९६
उपकार करोम्यस्य	२०१	११५	कपालस्यिर्विज्ञेय	२००	१०९
उपकारिण विप्रदधे	३०	७९	कमण्डलूपमोऽमात्य.	९१	९१
उपजापश्चिरारोधो	१६३	१३८	करोतु नाम नीतिज्ञो	६८	१४
उपाय चिन्तयन् प्राज्ञो	१७०	८	कर्तव्य. सचयो नित्य	४८	१६४
उपायेन हि यच्छक्य	१०१	१२०	कर्मानुमेया सर्वत्र	१९८	१००
उपायेन हि यच्छक्य	५८	२०२	कल्पयति येन वृत्ति	८१	६५
उपाजिताना विज्ञाना	४७	१५६	कश्चिदाश्रयसौन्दर्यात्	११३	१५७
उपाशु व्रीडितोऽमाल्य	९२	१००	काकतालीयवप्राप्त	६	३५
उशना वेद यच्छास्त्र	४०	१२२	काच काञ्चनससर्गात्	७	४१
ऋ			काम क्रोधस्त्रया मोहो	१९७	९५
ऋणकर्ता पिता शत्रु	४	२२	काम सर्वात्मना हेय	१९४	९०
ए.			काय सनिहितापाय	६२	२१२
एक भूमिपति करोति			काय सनिहितापाय	१८९	६४
सखिव	१०५	१२८	काल्यापनमाशाना	८०	६१
ए२ ज्ञत योधयति	१३८	५०	कान्यशास्त्रविनोदेन	९	१
ए३ ए३ सुहृदमो	२६	६५	कि चान्येर्न कुलाचार.	९१	९३
ए४ ए४ोपहारस्तु	२०२	१२५	कि भक्तेनात्मर्षेण	८३	७६
ए५ ए५ राजप्रिधातो	११२	१५५	कि नञ्जेणाननुष्ठानात्	१४४	६८
ए६ ए६ न विगुहीयात्	१५५	९२			



	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
किमप्यस्ति स्वभावेन	७८	५३	घ.		
कीदोऽपि सुमन सङ्गात्	८	४५	घर्मातं न तथा सुरी-		
कुत सेवाविहीनाना	७३	२९	तलजलै	३४	९७
कुर्वन्नपि वृत्तिकानि	१०६	१३२	घृतकुम्भसमा नारी	४०	११८
कुसुमस्तवकस्त्रेव	४३	१३४	च.		
कृतकृत्यस्य मृत्युस्य	१७२	१०	चन्दनतरुषु भुजङ्गा	११४	१३२
कृतशतमसत्सु नष्ट	११४	१६१	चलत्येकेन पादेन	३५	१०२
कोऽतिभार समर्थाना	६७	१३	चित्तौ परिष्वज्य विचेतन		
कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्	७९	५५	पति	१३३	३०
को वन्द्यो बहुभि पुत्रै	४	२१	छ.		
को वसो भूतदया	४६	१४९	छिद्र मर्म च वीर्यं च	१४१	५२
कोऽर्थे पुत्रेण जातेन	३	१२	ज		
को गीरन्म मनस्विन			जन जनपदा नित्य	८४	७८
मविषय	५१	१७५	जनयन्ति सुतान् गाव	१६९	११६
होराशेनार्थहोशेन	२०२	१२१	जनयन्त्यर्जने दु स	५३	१८४
होमं म होघमास्थाय	१३८	४८	जन्मनि क्लेशान्दुले	५३	१८८
होमं पिनाहे व्यमने	१६०	१२४	जन्ममृत्युजराव्याधि	१०३	८७
हर मित्र णे चापि	१४८	९४	जमदग्ने सुतसेन	१८०	२७
होत्री ह्योति प्रथम	१८०	६२	जये च लभते	११३	१७२
हृता गृपित्रीपाला	१८०	६३	जलविन्दुनिपातेन	६७	१०
हृता रात्रौ च मित्रे	११८	१८०	जलमग्निर्विप राद्य	१९	१६५
ह्रिप्रनाथमनाद्येभ्य	०२	०५	जलान्तश्चन्द्रचपल	२०३	१३८
हुदगद्युर्भेधस्तु	८६	८४	जातिद्रव्यगुणाना च	२०	१५
ख			जातिमात्रेण कि कश्चित्	२५	५८
ख द्रोति दुर्मुत	१२२	२१	जीान्ति च त्रिप्रन्ते च	१५२	१७३
ख सवेमाना हि	१३०	५३	जीधिते यस्य जीान्ति	७४	३९
ग.			त.		
गवान्गति ह्ये आह	१२	१०	तत्र पूर्वत्रनुमेगा	१२	८
गुप्तोपावन्तिश्चिन्त्य	१०८	१४४	तत्र मित्रं न प्रसूय	३३	१०३
गुणा गुणेषु गुणा			तस्करेभ्यो लिपुद्गन्ध	११	१००
नरन्ति	८	८७	तानान्द्रियाप्यपि क-		
गुणान् सीत्युव च			लानि	३०	१८०
दन्त	१००	११७	गच्छ नश्यतेत्य	७५	७
गणनगरान्न	३	१३			
गणित्त्वान्ना	३७	१०८			

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
तिरश्चामपि विश्वासो	३२	८५	दुर्जन परिहर्तव्यो	३२	८९
तिष्ठ. कोट्योऽर्धकोटी	१३३	२८	दुर्जन प्रियवादी च	३१	८२
तीर्याश्रमसुरस्थाने	१३५	३५	दुर्जनगम्या नार्य	११३	१५६
तृणानि नोन्मूलयति	८९	८८	दुर्जनदूषितमनस	१९९	१०२
तृणानि भूमिरुदित	२५	६०	दुर्जनेन सम सख्य	३०	८०
तृष्णा चेह परित्यज्य	५४	१९०	दुर्जनैरुच्यमानानि	१३१	२३
तेनाधीत श्रुत तेन	४५	१४६	दुर्जनो नार्जव याति	१०७	१३७
त्यजेत् क्षुधावा महिला	१८६	५४	दुर्भिक्षव्यसनी चैव	१८२	४३
त्यजेदेक कुलस्याये	४६	१५१	दुर्मन्त्रिण किमुपयन्ति	१५८	११७
त्रासहेतोर्विनीतिस्तु	१०३	१२३	दुर्वृत्त क्रियते	११७	१७५
त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासे	३१	८३	दुष्टा भार्या शठ मित्र	१०२	१२१
त्रिविधा पुरुषा राजन्	८२	७०	दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्य.	१४३	६२
खर्यकेन मदीयोऽर्थे	२०१	११८	दूरादवेक्षण हासः	८०	५९
			दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्र-		
द.			नयन	११४	१६४
दक्ष श्रियमधिगच्छति	१५७	११३	दूपयेच्चास्य सतत	१४६	८२
दन्तस्य निर्घर्षणकेन			देवतासु गुरौ गोपु	१५९	१२०
राजन्	८१	६६	दैवोपहतकश्चैव	१८०	३१
दरिद्रान्भर कौन्तेय	१३	१५	दोषभीतेरनारम्भ.	७९	५७
द्वातव्यमिति यद्दान	१३	१६	द्रवत्वात्सर्वलोहाना	३३	९३
दाता क्षमी गुणग्राही	१६४	१४०			
दान प्रियवाक्सहित	४८	१६३	घ.		
दान भोगो नाशस्त्रियो	४८	१६१	धन तावदसुलभ	५४	१८९
दाने तपसि शौर्ये च	३	१५	धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टो	४५	१४३
दानोपभोगरहिता			धनवान्वलवॉह्लोके	४१	१२३
दिवसा	६७	११	धनवानिति हि मदो मे	५२	१८०
दानोपभोगहीनेन	४८	१५९	धनानि जीवितं चैव	२०	४४
दायादादपरो मन्त्रो	१४८	९२	धनानि जीवितं चैव	१५२	१००
दारिद्र्याद्विद्यमेति	४३	१३६	धनाशा जीविताशा च	३९	११२
दारिद्र्यानमरणाद्वापि	४३	१२८	धनेन किं यो न ददाति	६७	९
दीपनिर्वाणगन्ध च	२९	७६	धनेन बलवॉह्लोके	४१	१२४
दीर्घवर्त्मपरिभ्रान्त	१५६	१०८	धर्मार्थं यस्य वित्तेहा	५३	१८५
दु खमेवास्ति न सुख	१९३	८८	धर्मार्थकामतत्त्व	११८	१७९
दु खितोऽपि चरेद्धर्म	१९२	८४	धर्मार्थकाममोक्षाणा प्राणा	२०	४३
दुर्गं कुर्यान्महाखात	१३८	५२	धर्मार्थकाममोक्षाणा यस्यै	५	२६

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
धान्यानां सग्रहो			न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्	३९	११७
राजन्	१३९	५५	न स्वल्पमप्यध्यय-		
धार्मिकस्याभियुक्तस्य	१७९	२३	सायभीरो.	५०	१७२
युते स्त्री वा शिशु-			नाकाले त्रियते जन्तु	६८	१७
यस्य	१६२	१३१	नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां	१००	११५
न.			नाद्रव्ये निहिता काचित्	८	४३
न कश्चित् कस्यचिन्मित्र	२८	७१	नानिवेद्य प्रकुर्यात्	९१	९१
न कस्यचित्कश्चिदिह	७७	४६	नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति	५०	१७०
न गणस्याग्रतो गच्छेत्	१६	२९	नाभिपेको न सस्कार	६९	१५
नगरस्यो वनस्यो	१३२	२६	नायमत्यन्तसवासो	१९०	७२
न तयोऽप्यते प्राचा	१३७	४२	नारिकेलसमाकारा	२३	५३
न ताडसो प्रीतिमुपेति	१००	११८	नाशयेत् कर्षयेत् शत्रून्	१४५	७६
न दानेन न मानेन	१००	११६	निजसौख्य निरुन्धानो	४७	१५८
न शिना शस्त्रपाणीना	१४	१९	निपानमिव मण्डूका.	५१	१७६
न देवाय न विप्राय	४८	१६०	निपीडिता वमन्त्युचे	९३	१०५
न दामाणि मन्त्रिण्य	५	३०	निमग्नस्य पयोराशो	६८	१६
न अद्रिपुत्रं न दुर्गपु	१७५	६९	निमित्तमुद्दिश्य हि य.	११३	१५१
न वनेताय पडतीति	१३	१७	नियतविषयवर्ती प्रायशो	५९	२०६
न इत्यान चाणस्य	१४२	६०	नियुक्त. क्षत्रियो द्रव्ये	५२	९५
न परम्यापरात्रेन	१०८	१४३	नियोग्येऽग्रहापायो	९३	१०७
न भूयदान न गुणो-			निरोगेशो न कर्तव्यो	८९	८३
दान	१८६	५६	निरुमाद् निरानन्द	६७	७
न नरस्य नरो दासो	१४३	७८	निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु	२५	८१
न मातरि न शत्रुषु	६२	२१०	निर्विशेषो यदा राजा	८७	३५
न योत्रनतन दूर	४६	१४८	नीच श्लाघ्यपद प्राप्य	१७३	११
न रण्य प्रातर्निषेध	१५७	११२	नृप कामासक्तो		
नरेभ्यो शरशो दोऽय	३३५	१५५	गणयति	१०८	११५
न कृत्वा न प्रितीनाय	१०	१२०	नोपभोक्तु न ध त्यक्तु	३१	१३३
न धरन्नेऽस्त्राद्यै	१२५	९१			
न नरावमनाकृष्ट	११	७	ग.		
न नो नो इति पञ्चव्या	५८	२०१	पृथ्वाऽप्युत्तराऽऽद्य	१५६	११५
न नो नना यत्र न			पृथ्विनिर्निमित्तं देह	१५५	११
कल्पे इहा	१५७	६३	पृथ्विन्याति नामप	३५	३६
न न इति दानात्मन्तु	१५३	११२	पृथ्वी स पृथ्वी	२३	३६
न नो नोऽपि	१५६	३२३	पृथ्वी न नदीपाठ.	१३८	६७

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
पयःपान भुजगानां	१२२	४	प्रतिक्षणमय कायः	१८९	६५
परस्परज्ञा संहृष्टा.	१६१	१२६	प्रतिवाचमदत्त केशव	८८	८७
परस्परोपकारस्तु	२०२	१२४	प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे	१३१	२४
पराधिकारचर्चा य	७२	३१	प्रत्याख्याने च दाने च	१२	१३
पराभव परिच्छेत्तु	११०	१५०	प्रत्यूह सर्वसिद्धीना	१३७	४५
परिच्छिन्न फल यत्र	२०२	१२३	प्रथम युद्धकारित्व	१४७	८६
परिच्छेदो हि पाण्डित्यं	४६	१५०	प्रमत्त भोजन व्यग्रं	१०६	१०९
परुषाण्यपि या प्रोक्ता	१३२	२५	प्रसाद कर्तुं पत्युः	१२९	२०
परैः समुज्यते	११८	१७६	प्रस्तावसदृश वाक्य	७८	५१
परोक्षे कार्यहन्तार	३०	७७	प्राक् पादयो पतति	३०	८१
परोपदेशे पाण्डित्यं	३६	१०३	प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा	१२	१२
परोऽपि हितवान् वन्धु	१४९	९८	प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्य	९३	१०३
पर्जन्य इव भूतानामा-			प्रालेयाष्ट्रे सुताया.	२०४	१३२
धार	५९	२०५	प्रिय ब्रूयादकूपण	१५३	१०२
एलितेषु हि दृष्टेषु	३८	१११	व.		
पल्लवग्राहि पाण्डित्य	४४	१४०	वन्धु को नाम	११७	१७४
पश्चात्सेनापतिर्यायात्	१४५	७२	वन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य	८५	८०
पान दुर्जनससर्गं	३९	११५	वलमश्वश्च सैन्याना	१४७	८४
पान स्त्री मृगया	१५७	११५	वलाध्यक्ष पुरो	१४५	७०
पानीय वा निरायास	४६	१५२	वलिना सह योद्धव्य	१३७	४६
पार्श्वयोरुभयोरश्वः	१४५	७१	वलिना सह योद्धव्य	१७९	२६
पिता रक्षति कौमारं	४०	१२१	वलीयसाभियुक्तस्तु	२००	१०५
पिता वा यदि वा	११८	७७८	वलेषु प्रमुखो हस्ती	१४६	८३
पुण्यतीर्थं कृत येन	४	१९	बहुशत्रुस्तु सत्रस्त	१८२	४५
पुण्याल्लब्धं यदेकेन	१५४	१०५	वालस्याल्पप्रभावत्वाच्च	१८१	३४
पुरस्कृत्य वल राजा	१६३	१३६	वालादपि ग्रहीतव्य	८४	७९
पुरावृत्तकधोद्गारै	१५५	१०६	वालोऽपि नावमन्तव्यो	८६	८२
पूर्वजन्मकृत कर्म	६	३३	वालो वा यदि वा वृद्धो	३६	१०७
पृष्ठत सेवयेदकं	७४	३४	वालो वृद्धो दीर्घरोमी	१८०	२९
पोतो हुस्तरवारिराशि-			बुद्धिमाननुरक्तोऽय	८३	७४
तरणे	११५	१६५	बुद्धिर्यस्य वल तस्य	१०२	१२२
प्रकृति स्वामिन त्यक्त्वा	१६५	१४४	ब्रह्महापि नर पूज्यो	६७	३
प्रजा संरक्षति नृप	१२१	३	ब्राह्मण. क्षत्रियो वन्धु	९२	९६
प्रणमत्युत्ततिहेतो	७१	२७	भ		
प्रणयादुपवारादा	१७९	९	नक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्	१७४	१३
			भक्षितेनापि भवता	३२	८४

	पृ०	श्लो०
भक्ष्यभक्षकयो प्रीतिः	२२	५५
भक्तो गुणी शुचि.	१२९	१९
भर्ता हि परमं	१३२	२७
भवेत् स्वपरराट्टाणां	१३५	३४
भवेत्स्मिन् पवनोद्भ्रान्तः	१६५	१४२
नीर्ह्युद्धपरित्यागात्	१८१	३७
भुवा सारवतीना तु	२०२	१२२
भूमिभिन्न हिरण्य च	१४४	६६
भूयैकदेशस्य	११८	१७७
भोगस्य भाजन राजा	१०४	१२५
<b>म.</b>		
मन्त्रपि पयोराशो	११२	१५४
मणि उडति पादेषु	८२	३८
मतिरोर गलात्परीयसी	८८	८६
मति श्लिष्यते सत्य	१८५	५३
मत् प्रमत्तधोन्मत्तः	१८३	५५
मरो द्वाह्य नृपते.	१७७	१६
मनश्चन्यद्रन्यन्य इ	३५	१०१
मनस्यो ध्रियते काम	४३	१३३
मनुष्य ता गी तुलयाया	७५	२०
मन्त्रराजभिद् गुप्त	१०९	१०५
मन्त्रनेद-पि ये शोभाः	१३३	३७
मन्त्रिणा निश्चयान्ते	१५५	१२१
मन्त्रिणा पृथि सापाल	११०	१६७
मन्त्रो योत्र इवाशोर.	१०९	१३७
मयान्तोपट्टत्र पूर्व	२०१	११८
मरत्यत्या यथा गृष्टि	१२	११
मरेष्वमिति यद् न	२३	३०
मइनाप्ययंकारिण	३३	५१
मइतो दृग्भीत्ये	१२०	४७
मइत्ये-पुष्यायज.	१३८	८५
मइत्यु-मइत्यन्य	१३२	१३८
मइत्ये-मइत्ये	१३	२८
मइत्ये-मइत्ये	३	३८
मइत्ये-मइत्ये	३	३८

	पृ०	श्लो०
मातृव.परदारेषु	१३	१४
मात्रा स्वच्छा दुहित्रा वा	४०	११३
मार्जारो महिषो मेप	३२	८७
मासमूत्रपुरीषास्थि	२०	४१
मासमेक नरो याति	४९	१३७
मित्र प्राप्तु सजना	६४	२१३
मित्र प्रीतिरसायन	६४	२१४
मित्रलाभ सुहृद्भेदो	२	९
मिनामाल्यसुहृद्गर्गा	१४४	६५
मुकुटे रोपित	८३	७३
मुद विपाद शरद	१५८	११८
मुहुर्नियोगिनो बाध्या	९३	१०६
मूर्ध्ने स्वत्पन्नयत्रासात्	१६०	१२५
मूर्ध्नेऽपि शोभते तावत्	७	४०
मूल भुजङ्गे कुसुमालि	११४	११३
मूलभृत्यान् परित्यज्य	१०७	१३३
मृगतृष्णामम	२०३	१०५
मृत प्राप्नोति वा स्वर्गं	११६	१६५
मृद्घट इत्सुभवोभ्यो	३३	५२
मौनान्मूर्ध्नि प्रवचनपटु.	७१	२६

**य.**

य काकिनीमाप्यपय-		
य प्रपन्ना	१६०	१२३
य कुर्यान्मन्त्रिणावतां	१००	१३०
य कुलाभिन्ननाचरि.	५५	२७३
य स्वभावो हि	१४१	५८
यजीव्यते दण्डमणि प्रवित		
य मनुष्ये.	४३	४३
यत्र तत्र इत शूर.	१३३	१६६
यत्र भूयैकदेशेन	२७१	११३
यत्र राजा तत्र क्रोशो	१६३	२०
यत्र विद्वज्जलो नास्ति	१७	६०
यत्रापुत्र दुःखं मृत्युः	१६८	२०१
यत्रो द्वाष्ट च	११०	६६

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
यथाकालकृतोद्योगात्	१३७	४३	यानि कानि च मित्राणि	२२	५३
यथा प्रमुकृतान्मानात्	१४७	८८	या हि प्राणपरित्याग	१८३	४८
यथा मूर्त्तिपडत. कर्ता	६	३४	याचते कार्यकाले य.	७३	३२
यथा हि पथिक			यात्ययोऽधो व्रजत्युच्चै	७७	४८
कश्चित्	१९०	६९	यानि कानि च मित्राणि	२२	५३
यथा ह्येकेन चक्रेण	६	३२	या प्रकृत्यैव चपला	७०	२५
यथा ह्यामिषमाकाशे	५३	१८३	यामेव रात्रि प्रथमा-		
यथोदयगिरेर्द्रव्य	८	४६	मुपैति	१९२	८०
यद्घोऽध. क्षितौ वित्त	४७	१५७	यावत् कुरुते जन्तु	१९०	७१
यद्भावि न तद्भावि	५	२९	यावदायु प्रमाणस्तु	२०१	१११
यद्भावि न तद्भावि	१७०	७	युध्यमाना हयारूढा	१४७	८५
यद्दशक्यं न तच्छक्य	३३	९०	येन शुक्लीकृता हसा	५३	१८३
यदाऽस्तसद्गरहितो	६०	२०७	येषां राजा सह स्यातां	१६२	१३३
यदि न स्यात्	१२१	२	योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति	१५४	१०३
यदि नित्यमनित्येन	२०	४८	योऽस्ति यस्य सदा		
यदि समरमपास्य नास्ति			मासं	२६	६६
मृत्यो.	१६३	१४१	योऽधिकाद्योजनशतात्	२१	५०
यद्ददाति यद्ददाति	५०	१६८	यो ध्रुवाणि परित्यज्य	६४	२१५
यद्ददाति विशिष्टेभ्यो	५०	१६९	यो यत्र कुशलः कार्ये	१३९	५४
यद्यदेव हि वाञ्छेत	५४	१९१	यो येन प्रतिवद्वः		
यद्येन युज्यते लोके	२२	५४	स्यात्	१६१	१३०
यद्येव भाजने लग्नः	२	८	यो नात्मजे न च गुरौ		
ययोरेव समं वित्त	११५	१६६	न च	७६	४४
यद्यप्युपायाश्चत्वारो	१९७	९८	यो हि धर्मं पुरस्कृत्य	१७७	१७
यस्माच्च येन च यथा च	१९	४०	योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय	१९५	९३
यस्मिन्नेवाधिक चक्षु	१०६	१३४	यौवनं धनसंपत्ति.	२	११
यस्मिन्जीवति जीवन्ति	७५	३७	र		
यस्मिन्देसो न समानो	३६	१०४	रजनीचरनाथेन खण्डिते	९७	१११
यस्य कस्य प्रसूतोऽपि	४	२४	रहस्यभेदो याच्या च	३४	९८
यस्य नास्ति स्वयं प्रजा	१५८	११९	राजत सलिलादग्ने.	५३	१८७
यस्य प्रसादे पद्मास्त्रे	८५	८१	राजा कुलवधूर्विश्रा	५१	१७३
यस्य मित्रेण सभापो	१८	३९	राजा घृणी ब्राह्मण.	११९	१८२
यस्य यस्य हि यो भाव.	७८	५४	राजा मत्त. शिशु-	१२८	१८
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि	४२	१२६	राजान प्रथमं विन्देत्	५९	२०४

	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
राज्यलोभादह	११९	१८१	वित्त यदा यस्य सम		
रूपचौवनमपन्ना	७	३९	विभक्त	१८३	४९
रोगशोकपरीतापबन्धन	१९	४१	विद्या ददाति विनय	२	६
रोगी चिरप्रवासी च.	४४	१४१	विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य	२	७
ल.			विद्वानेवोपदेष्टव्यो	१२२	५
रुग्ण कुरोऽलसो	१५३	१०७	तिनाप्यथैवीर. स्पृशति		
रुग्णमर्थेन गृह्णीयात्	१९९	१०३	ऋमानो	५२	१०२
रुग्णस्वासेविभागि	१८१	३८	विना वतेनसेवैते	२०	४३
लोकसात्राऽभय लजा	२६	१०५	विपदि धैर्यमथाभ्युदये		
लोको वरुणि किराजन्	१८८	५९	क्षमा	१७	३३
लोभेन पुत्रिश्चलति	४५	१४२	विरक्तप्रकृतिश्चैव	१८२	३०
लोभात्करो प्रभवति	१५	२७	विशन्ति सहसा मूडा.	१४४	३१
व.			विश्वासप्रतिपन्नानां	१८४	५१
रुद्र व राजनेत्रय	११५	१६८	विपदिग्धस्य भक्तस्य	१०५	१२५
रुनेत्रय शंसा. प्रनरन्ति			विपमो हि यथा नक्त	१६२	१३५
रागिणा	१९२	८३	विपमा हि दशा प्राप्य	१६७	३
रु संन्यासो राजसि य ३		१७	विस्तीर्णतातिवैपम्य	१३५	५३
रु प्राप्यति वाग.	१०३	१२३	विमाय सर्वथा हेय	१८	१५
रु न न कार्ये न न	१३	१३७	वृत्त महति सप्राप्ते	१३७	१
रु विनयशनेन	१३	१३०	वृत्त्यै नातिवेष्टत	५२	१८३
रु सा. प्रवृत्तान्दोषवित	१३	१०३	वृत्त्यै भोजन येषां	१०३	१५
रु शून्या नाश न य	१३	१३८	वृत्तानां वचन प्राप्य	१५	३३
रु कल्पवृक्षमात्र	११७	८१	वृद्धो गृह्यन् मन्त्री च	१५१	१०१
रु नेत्रो गुण पुत्रो न च	३	१८	वृष्टानामानुर श्रेवान्	१३१	३३
रु विज्ञो हि वि पून	३०८	२०	वृत्तानि न निरुन्ते	१११	११
रु न चाप्रतिपत्ति.	१३३	३२	व्याप्राह्य यः		
रु न न स सन्माय	१०७	१५१	व्याप्य	१३३	११
रु नाना न स नो	३०	१	व्योनेकान्वतिप्रारिणाऽपि	११	११
रु न स न शोचन्	००	३०	श.		
रु न ह हरेत्तु			वृत्तानि यवनाद्यन्त	११	१३
रु न च	००२	१०१	वृत्त इप्राप्य विद्वेष्ट	१३३	३१
रु न च न च न च	१०३	३०	वृत्तानि न च न च	१३	३०
रु न च न च न च	१०३	३०	वृत्तानि न च न च	१३	३०

	पृ०	श्लो०
शरीरस्य गुणानां च	२१	४९
शक्तिदिवाकरयोर्ग्रहपीडन	२१	५१
शशिनीव हिमार्तानां	३८	११०
शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति	५०	१७१
शितैरप्यविशेषज्ञः	१६१	१२८
शीतवातातपक्लेशान्	७०	२१
शुचित्व त्यागिता शौर्यं	३४	९६
शैलेषु दुर्गमार्गेषु	१४५	७५
शोकस्थानसहस्राणि	१०	३
शोकारातिभयत्राण	६२	२१३
श्रीमान् धवल- चन्द्रोऽसौ	२०४	१३३
धुतो हितोपदेशोऽय	१	२
लाघ्यं स एको भुवि मानवाना	५५	१९८
प.		
पङ्कणो भिद्यते मन्त्र	१३५	३६
पद् द्रोपा पुरपेणेह हातव्या	१७	३८
स.		
सचिन्त्य सचिन्त्य तमु- द्रदण्ड	१९१	७९
सगत सधिरेवाय	२०१	११२
सतोपामृतनृसाना	४५	१४५
सत्यज्यते प्रकृतिभि	१८१	३९
सधाय शुवराजेन	१२८	९३
सधि सर्वमहीभुजा	२०४	१३१
सपत्न्य परार्थाना	१११	१५२
सपत्नेश्च विपत्नेश्च	१८२	४२
सपदा सुस्थितमन्यो	६५	६
सपदि यस्य न हर्षो	१७	३३
सयोगो हि वियोगस्य	१९१	७३
सयोजयति विद्येय	१	५

	पृ०	श्लो०
संलापिताना मधुरैर्व- चोभि.	३२	७८
संसारविपवृक्षस्य	४७	१५४
संहतत्वाद्यथा वेणु.	१७९	२५
संहतास्तु हरन्त्येते	१७	३७
संहति श्रेयसी पुसा	१७	३७
स किंभृत्य. स किंमन्त्री	१३६	३८
सकृद्दुष्ट तु यो मित्र	१०९	१४८
सङ्ग. सर्वात्मना त्याज्य	१९४	८९
स जातो तेन जातन	३	१५
सत्य शौर्यं दया त्यागो	१६१	१२९
सत्यधर्मव्यपेतेन	१८२	४७
सत्यानृता सपरुषा	११९	१८३
सत्यायौ धार्मिको- ऽनार्यो	१७९	२१
सत्योऽनुपालयेत् सत्य	१७९	२२
सदामात्यो न साध्यः स्यात्	९३	१०२
सदा धर्मवलीयस्त्वात्	१८१	४१
सद्भावेन हरेन्मित्र	१९९	१०४
सन्त एव सता नित्ये	५४	१९३
सन्तानसधिविज्ञेयो	२००	११०
सन्धि कार्याऽप्य- नार्येण	१७९	२४
सन्धिमिच्छेत् समेनापि	१७७	१९
सन्मार्गं तावदास्त्रे प्रनवति	५७	१९८
स बन्धुर्यो विपन्नाना	१६	३१
स मूर्खं कालमप्राप्य	१३८	४७
समेयाद्विपन्न नागै	१४५	७३
सरसि बहुशस्त्रारा- च्छाये	१९९	१०९
सर्व एव जन. शूरो	१३७	४१



	पृ०	श्लो०		पृ०	श्लो०
सर्वज्ञानमसृद्धस्य	१८७	५७	सेवया धनमिच्छन्नि.	७०	२०
नर्पत्रवेषु विद्यैव	१	४	सेवेव मानमखिल	४४	१३२
नर्पत्य हि परीक्ष्यन्ते	१४	२०	स्कन्धेनापि वहेच्छुनु	१८८	६०
सर्वहिसानिवृत्ता ये	२६	६४	स्कन्धोपनेय सधिश्च	२००	१०८
न त्रिन्धोऽङ्कुरालात्रिवा-			स्तब्धस्य नश्यति यशो	९४	१०८
रयति	१०७	१४१	स्त्रीभिः कस्य न खण्डित	११२	१५३
नश्ना विदधीत न			स्थान नास्ति क्षण नास्ति	३९	१३९
क्रिया	१९०	९७	स्थान एव नियोज्यन्ते	८२	७१
न हि गगनचिह्नारी	१४	२१	स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति	५१	१७४
न मनाय सदा श्रेयान्	९१	९२	स्रोहच्छेदेऽपि साधूना	३३	७५
नतो सम्यक्तयस्तस्य	४५	१४४	सन्द्यनाथे समे		
नयोः प्रहोषितस्यापि	३२	८६	युद्धेत्	१४३	१
ना भयो वा गुडे			स कर्मसन्तानविचे-		
दशा	५८	२००	ष्टितानि	३२	२११
मात्रा एतेन भेदेन	१३९	४०	स्वच्छन्दजातेन	२७	९
भेदि मा वै सतामस्तु	१	१	सभावशूरमखज	१४१	११
युक्तान्वर्त कर्माणि	१२१	७८	भय वीक्ष्य यथा वश्या	५६	१९७
पुनश्चाप त ए सेज्य	३२	१७७	स्वराज्य प्राप्तयेनात्ता	१४१	५१
यु गन्धर्वा इपमे स्तु	१९१	७६	स्वर्णरेभामाह स्पृष्ट्वा	९५	११७
यु यो- स्त्री हि भवति	१८१	३६	स्वल्पाद्यायु रसा पशेष-		
मुष्ण स्नायाय मुष्ण-			मदिन	७५	३१
इतन	१८३	१०	स्वर्णेन्येन तु मधान	२५२	११८
कुंभर वि स्तु	१३१	९	स्वा रज्य गितुमन्दिरे	३६	१३१
मुष्णजनक मुष्ण यताम			भ्याप ह्यं परोत्कर्णं	१४३	१६
स्त	१०	३७			